पूर्वी और पश्चिमी दर्शन

देवराज

प्रकाशक—
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९४५ : १०००
मूल्य
सवा दो रुपये

मुद्रक—
अमरचन्द्र जैन,
राजहंस प्रेस,
सदर बाज़ार दिल्ली

श्रद्धेय

महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज

भूतपूर्व प्रिंसिपल, संस्कृत कालेज, बनारस

और

पंडित अमरनाथ झा

वाइसचांसलर, प्रयाग विश्वविद्यालय

को

सादर साग्रह समर्पित

निवेदन

बंगाल हिन्दी-मंडल के विविध उद्देश्यों में एक यह भी है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में अपने-अपने विषय के उत्कृष्ट विद्वानों से, उन्हें आदर पूर्वक पारितोषिक भेंट करके, उत्तम प्रामाणिक पुस्तकें लिखाई जायं, और उचित समझा जाय, तो पुरस्कृत पुस्तकों को प्रकाशित भी कराया जाय।

सन् १९४४ में जिन हस्तलिखित पुस्तकों पर बंगाल हिन्दी-मंडल ने पारितोषिक प्रदान किये थे, उनमें से हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान डॉ० देवराज एम० ए०, डी० फिल० लिखित "पूर्वी और पश्चिमी दर्शन" नामक यह पुस्तक सस्ता-साहित्य-मंडल, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित की जा रही है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक दर्शन विषयक साहित्य लिखने में खासी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। "पूर्वी और पश्चिमी दर्शन" में पाठकों को लेखक का गंभीर एवं निष्पक्ष दार्शनिक अध्ययन मिलेगा, ऐसी आशा है।

प्रचार के विचार से पुस्तक का मूल्य लागत-मात्र रखा गया है। यदि इस पुस्तक ने विद्वानों में उचित आदर पाया तो बंगाल हिन्दी-मंडल अपने विनम्र उद्योग को सफल समझेगा।

मंत्री
बंगाल हिन्दी-मंडल

प्रस्तावना

प्रायः तीन वर्ष हुए कि मैंने अपनी थीसिस, 'क्राइटीरियालोजी इन् शंकर' में तुलनात्मक दर्शन पर कुछ विचार प्रकट किये थे। तभी से मेरी इच्छा थी कि उन विचारों के अनुरूप पद्धति से तुलनात्मक दर्शन पर कुछ लिखूं। मेरी यह भी इच्छा थी कि 'थीसिस' के कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों को हिन्दी माध्यम में अनूदित करूं। प्रसन्नता की बात है कि आज मेरी यह दोनों इच्छाएं पूर्ण हो रही हैं। सब से अधिक प्रसन्नता मुझे इस बात की है कि यह पुस्तक अपने मूलरूप में मातृ-भाषा में लिखी गई है।*

तुलनात्मक दर्शन का आदर्श क्या होना चाहिए? जीवन और जगत् के बारे में सत्य की उपलब्धि तुलनात्मक दर्शन का साक्षात् उद्देश्य नहीं है। तुलनात्मक अध्ययन में हम जिस सत्य को खोजते हैं वह विभिन्न दर्शन-पद्धतियों-विषयक सत्य है, जीवन और जगत्-विषयक नहीं। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन से जीवन के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण बनाने में, जो एकांगी नहीं है और जो देश-काल एवं जातीय पक्षपातों के प्रभाव से न्यूनाधिक मुक्त है, सहायता मिलती है। वस्तुतः तुलनात्मक दर्शन का प्रधान उद्देश्य उन विभिन्न दृष्टिकोणों, प्रयोजनों और पद्धतियों का विशद निरूपण होना चाहिए, जिन्होंने विभिन्न

* 'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' नाम पर आक्षेप किया जा सकता है, क्योंकि पुस्तक में सब पूर्वी दर्शनों की पश्चिमी दर्शनों से तुलना नहीं की गई है। उत्तर में निवेदन है कि भारतीय दर्शन सहज ही पूर्वी देशों का प्रतिनिधि-दर्शन कहा जा सकता है। चीनी दर्शन का तो आरंभ ही बौद्ध दर्शन के सम्पर्क से लगभग पहली शताब्दी ई० में हुआ था, और उसकी बाद की प्रगति पर भारतीय चिन्तन की स्पष्ट छाप है। इसलामी दर्शन भी मौलिक न था, उस पर यूनानी दर्शन का बहुत प्रभाव पड़ा था।

दर्शनों की प्रगति को निर्धारित किया है । उदाहरण के लिए पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के तुलनात्मक अध्येता को यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि वे दर्शन किस उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुए थे, दार्शनिक चिन्तन के विषय अर्थात् अनुभव-जगत् के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण था, उनकी चिन्तन-पद्धति क्या थी और वे किन मान्यताओं (Pre suppositions) को आवश्यक मानकर चले थे । संक्षेप में, तुलनात्मक दर्शन को यह बताना चाहिए कि विभिन्न देशों या युगों के दर्शन कहां से चिन्तन प्रारम्भ करते हैं और किस पद्धति का अवलम्ब लेकर कहा पहुंचना चाहते हैं। विभिन्न दर्शनों के **निष्कर्षों** पर ध्यान देना तुलनात्मक दर्शन के लिए अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण है । इसीलिए तुलनात्मक दर्शन में विभिन्न पद्धतियों का, विशेषतः यदि वे पद्धतिया भिन्न देशों की हैं, मूल्य आंकने की कम से कम चेष्टा होनी चाहिए। बात यह है कि किसी प्रकार का मूल्यांकन एक विशेष दृष्टिकोण को अपना लेने पर ही सम्भव हो सकता है, और जिसने एक खास दृष्टिकोण बना लिया है वह निष्पक्ष-दृष्टि से विभिन्न देशों और युगों की विशेषताओं का वर्णन नहीं कर सकता। दुर्भाग्यवश अधिकाश तुलनात्मक अध्येताओं ने अब तक यही किया है। दृष्टिकोणों और पद्धतियों (Methods) की अपेक्षा निष्कर्षों पर अधिक दृष्टि रखी जाने का परिणाम यह हुआ है कि जहां कुछ लेखकों ने शाङ्कर वेदान्त की (यह एक उदाहरण पर्याप्त होगा) पार्मिनिडीज़, प्लेटो, काण्ट, हीगल, फिच्टे, एखार्ट, बर्कले, ब्रेडले आदि विचारकों से यथारुचि तुलना कर डाली है, वहां ईसाई पण्डितों ने उसे कोरा मिथ्यावाद या भ्रमवाद (Illusionism) कह कर उड़ाने की चेष्टा की है। ऊपर हमने जिन योरुपीय दार्शनिकों का उल्लेख किया उनकी पद्धतियां परस्पर नितान्त भिन्न हैं, फिर शाङ्कर वेदान्त उन सब के समान कैसे हो सकता है ? वस्तुतः दो-एक दार्शनिक निष्कर्षों या सिद्धान्तों की समानता से कोई पद्धतियां समान नहीं हो जातीं। क्योंकि योरुप के अधिकांश बड़े दार्शनिक अध्यात्मवादी हैं, और शाङ्कर वेदान्त भी अध्यात्मवादी है,

इसलिए उन योरुपीय विचारकों में पारस्परिक तथा वेदान्त की अपेक्षा से भी कुछ समानताएं पाई जा सकती हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन सब के दर्शनों में महत्त्वपूर्ण भेद नहीं हैं, या वे लगभग समान हैं।

इसका यह मतलब नहीं है कि जहां विभिन्न दर्शनों में समानताएं हों वहां भी उन्हें देखने से इन्कार कर दिया जाय। योरुप के कुछ पण्डितों ने आक्षेप किया है कि भारतीय लेखक अपने प्राचीन विचारकों में उन नये सिद्धान्तों को ढूंढ निकालते हैं जो कि वस्तुतः आधुनिक योरुप में अन्वेषित और प्रचारित हुए हैं।* यह आक्षेप निराधार नहीं है। दो शताब्दियों की गुलामी ने भारतीयों में हीनता-भाव उत्पन्न कर दिया है, जिससे वे अपने विचारकों की पश्चिमी विचारकों से तुलना करने को लालायित हो जाते हैं। किन्तु यह समझना भ्रम है कि इस प्रकार की तुलनाएं भारतीय पण्डितों ने ही की हैं। वस्तुतः, भारतीय दर्शनों की पश्चिमी पद्धतियों से लम्बी-चौड़ी तुलनाओं का आरम्भ पश्चिमी लेखकों ने ही किया था, और आज भी वे इससे विरत नहीं हैं।※ इसके अतिरिक्त, यदि कहीं योरुप के आधुनिक विचार प्राचीन भारतीय दर्शन में पाये ही जाय, तो चारा ही क्या है? यदि बर्कले से पहले विज्ञानवाद, और ब्रेडले से पहले नागार्जुन का जन्म हो गया, तो इसके लिए बेचारे भारतीयों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

इस पुस्तक में हमने यथाशक्ति सिर्फ निष्कर्षों के आधार पर समानताएं या विषमताएं देखने की चेष्टा नहीं की है। विशेषतः अध्यात्मवाद के सम्बन्ध में हमारा अपना निष्कर्ष यह है कि भारतीय वेदान्त और योरुपीय अध्यात्मवादियों में विशेष समानता नहीं है। इस

* दे० Keith, Buddhist Philosophy, Preface.

※ भारतीय दर्शनों में वेदान्त सब से अधिक तुलनाओं का शिकार हुआ है। विशेष विवरण के लिए देखिये, N. K. Dutt, The Vedanta, पृ० ३२-३६; तथा 'Hinduism Invades America' (1930)

पुस्तक में हमने प्रधानतया पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के दृष्टिकोणों, प्रयोजनों और पद्धतियों का निर्देश करने का प्रयत्न किया है। साथ ही हमने यह दिखाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार ऊपर की विशेषताओं ने पूर्व और पश्चिम की दार्शनिक प्रगति को निरन्तर निर्धारित किया है। हमने जहा कहीं मूल्यांकन का प्रयत्न किया है, वहां उसका आधार या तो तर्क-शास्त्र का प्रसिद्ध मापदण्ड आत्मसंगति (Self-consistency) है, या सहज बुद्धि (Common sense)। उदाहरण के लिए हमने बर्गसा के प्रतिभानवाद (Intuitionism) की तुलना में वेदान्त के प्रत्यक्ष के विश्लेषण को अधिक पूर्ण बतलाया है, और यह मत प्रकट किया है कि योरुप ने भारत की अपेक्षा विश्व-व्याख्या के अधिक साहसपूर्ण और विविध प्रयत्न किये हैं।

प्रस्तुत लेखक की शिक्षा-दीक्षा प्रायः पश्चिमी ढंग पर हुई है, इसलिए उस में पश्चिमी पक्षपातों का पाया जाना आश्चर्य की बात नहीं है। साथ ही उसने पूर्वी ढंग से भारतीय दर्शनों का भी किंचित् अध्ययन किया है, और, इसके सिवाय, उसकी धमनियों में प्राचीन भारत का रक्त है। ऐसी दशा में उसके लिए पूर्व और पश्चिम दोनों को सहानुभूति दे सकना असम्भव नहीं है। उसने बार-बार अपने भीतर पूर्व और पश्चिम को युद्ध करते, सांस्कृतिक विजय के लिए लड़ते, पाया या अनुभव किया है। पश्चिम का आदर्श है निर्घृण आलोचनात्मक दृष्टि और तटस्थता। पश्चिमी मस्तिष्क ऐसे किसी सत्य को, चाहे वह कितना ही प्यारा और आकर्षक हो, स्वीकार नहीं कर सकता जो बुद्धि की कसौटी पर खरा न उतरे; वह परुष तर्कशास्त्र के अप्रिय से अप्रिय निष्कर्षों को ग्रहण करने को तैयार रहता है। इसके विपरीत भारतीय हृदय सहिष्णु और सम्वेदनशील हैं। भारतीय मस्तिष्क सत्य को समझना ही नहीं चाहता, वह उसे आत्मसात् भी करना चाहता है। सीमित विश्व की दुःखानुभूति से व्याकुल भारतीय हृदय सदैव अनन्त के लिए साधनाशील रहा है। भारतीय दर्शन विश्व की व्याख्या करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वह 'भूमा' की प्राप्ति का पथ-

निर्देश भी करना चाहता है। भूमा के अस्तित्व में उसकी अटल श्रद्धा है, उसकी सिद्धि के लिए वह तर्क का मुंह नहीं जोहता; वह उसकी आवश्यक मान्यता (Postulate) है। अपने इस विश्वास को बनाये रखने के लिए वह सम्भवतः तर्क का परित्याग भी कर देगा। इसके विपरीत योरुपीय दर्शन किसी दशा में मात्र श्रद्धा से समझौता नहीं करेगा। इस विषय में मेरी पूर्व और पश्चिम दोनों से सहानुभूति है, जिसका परिणाम दुविधा और मानसिक सन्तुलन का खोया जाना है।

ऐसी दशा में मेरा विश्वास है कि मैंने पूर्व और पश्चिम दोनों को समान सहानुभूति देने की चेष्टा की है। फिर भी यदि पाठकों को कहीं-कहीं भारतीय पक्षपात की गंध मिले, तो आश्चर्य नहीं। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि भारत के पराधीन होने के कारण प्रायः उसकी विभूतियों का उचित मूल्य नहीं लगाया जाता। इस अन्याय का प्रतिकार करने के लिए कभी-कभी भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य को अतिरंजित करके दिखाना पड़ जाता है। दूसरे, संस्कृत ग्रन्थों तक सीधी पहुंच होने के कारण तथा अंग्रेजी के अतिरिक्त कोई दूसरी भाषा, विशेषतः प्राचीन ग्रीक और आधुनिक जर्मन, न जानने के कारण सम्भवतः मैं योरुपीय दर्शन को उतने आन्तरिक रूप में नहीं समझ सकता जैसे कि भारतीय दर्शन को फिर भी मेरा विश्वास है कि मैं अपने को राष्ट्रवाद (Ntaionalism) के अंध-पक्षपातों से ऊपर रख सका हूं। मेरी अभिलाषा है कि मेरे पाठक जहा भारतीय दर्शन और संस्कृति के उदात्त रूप को ठीक-ठीक हृदयंगम करें, वहां योरुप के नितान्त साहसपूर्ण विचारकों का, जो मात्र मानव-बुद्धि का सम्बल लेकर विश्व की गहराइयो में पैठ जाते हैं, महत्त्व देखने से वञ्चित न रहें।

भारतीय और योरुपीय दर्शन की समानताएं और विषमताएं दोनों ही विस्मयजनक हैं। आश्चर्य की बात है कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने बहुत-सी उन समस्याओं को उठाया जिन पर योरुपीय दर्शन आधुनिक काल में बराबर विचार करता रहा है। उदाहरण के लिए वर्त्तमान सम्वित्-

शास्त्र के प्रायः सभी प्रश्नों पर प्राचीन भारतीय दर्शन में आलोचना-प्रत्यालोचना हुई है; प्रमा के स्वरूप और उसकी परख (Criterion) पर चिन्तन करते हुए भारतीय दार्शनिकों ने विलियम जेम्स के उपयोगितावाद (Pragmatism) जैसे अति आधुनिक मन्तव्यों को भी अकल्पित नहीं छोड़ा, जबकि स्याद्वाद या अनेकान्तवाद जैसे सिद्धान्त आधुनिक यथार्थवाद को भी कुछ सिखा सकते हैं। प्रमा या यथार्थज्ञान के सम्बन्ध में प्लेटो और वेदान्त का सादृश्य अद्भुत है। इसी प्रकार वेदान्त और बर्गसां के प्रातिभ ज्ञान (Intuition) सम्बन्धी विचारों में आश्चर्यजनक समता है। विज्ञानवाद और बर्कले, तथा नागार्जुन और ब्रेडले में भी कम सादृश्य नहीं है। इसी प्रकार स्पेन्सर के विकासवाद और सांख्य के परिणामवाद में अद्भुत साम्य है।

समानताओं की अपेक्षा विषमताएं और भी अधिक चकित करने वाली हैं। दर्शन-शास्त्र का व्याख्येय एक ही अनुभव जगत् है; जीवन, मृत्यु और मोक्ष की समस्या भी सारी मानवता के लिए एक ही है; फिर पूर्वी और पश्चिमी दर्शन एक दूसरे से इतनी भिन्न प्रणालियों में क्यों बढ़े हैं? एक दर्शन मोक्ष को ध्येय बनाकर चलता है, दूसरा विश्व की व्याख्या को; एक का चिन्तन निरुपयोगी है, दूसरे का असीम आत्मा को पकड़ने के लिए; एक का प्रधान अस्त्र बुद्धि है, दूसरा अपरोक्षानुभूति पर जोर देता है। यही नहीं, ज्ञान का विश्लेषण करते समय योरुपीय दर्शन जहां प्रत्ययात्मक या धारणात्मक (Conceptual) ज्ञान पर दृष्टि रखता है, वहां भारतीय विचारक प्रत्यक्ष अनुभव पर ध्यान जमाये रहते हैं; और जहां भारतीय अध्यात्मवाद ब्रह्म को प्रज्ञानघन अथवा प्रत्यक्ष-चेतनारूप कथित करता है, वहां योरुपीय परब्रह्म अक्सर प्रत्यय-समष्टि-रूप या धारणात्मक कल्पित किया गया है। शङ्कर एवं प्लेटो और हीगल की पद्धितयां हमारे इस कथन की पुष्टि करेंगी। जहां योरुपीय चेतना को प्राचीन काल से सीमित और समञ्जस पदार्थों से प्रेम रहा है, वहां भारतीय हृदय प्रारम्भ से ही 'भूमा' या असीम का अनुरागी रहा है।

इसलिए जहां योरुपीय नीति-शास्त्र समझ में आने योग्य ऐहिक पूर्ण जीवन को अपना लक्ष्य बनाता है, वहां भारतीय नीतिधर्म नैतिक जीवन से परे मोक्षादर्श के लिए साधना का रूप धारण कर लेता है।

पूर्वी और पश्चिमी दोनों दर्शनों के अध्येता को दोनों जगह के चिन्तन की एकरसता खलने लगती है। योरुपीय दर्शन लगातार विश्व की व्याख्याएं प्रस्तुत करता आया है, और भारतीय दर्शन निरन्तर मोक्ष के उपायों को खोजता चला आया है। तुलनात्मक दर्शन का विद्यार्थी जितनी सरलता से विभिन्न दृष्टिकोणों की एकांगिता और रूढ़िवादिता को देख और पकड़ सकता है, उतनी कोई नहीं; साथ ही वह विभिन्न दृष्टिकोणों और चिन्तन-प्रकारों के प्रति सहिष्णु होना भी सीखता है। मेरी समझ में तुलनात्मक अध्ययन के यह दोनों महत्त्वपूर्ण उपयोग हैं। विभिन्न मान्यताओं (Pre-suppositions) को लेकर विभिन्न दृष्टिकोणों से निर्मित होने वाली भिन्न-देशीय दर्शन पद्धतियों का दृश्य उपस्थित करके तुलनात्मक अध्ययन दार्शनिक चिन्ता को अधिक सजग और सचेतन (Self-conscious) बनाने में सहायक हो सकता है।

हिन्दी माध्यम में दर्शन पर, विशेषतः योरुपीय दर्शन पर, लिखने की कठिनाइयां का ठीक-ठीक अनुमान वे ही कर सकते हैं जिन्होंने इस दिशा में कभी प्रयत्न किया है। विभिन्न आधुनिक शास्त्रों और विज्ञानों की विषय-वस्तु के लिए हिन्दी-शब्द पाना असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। मैंने यथा-साध्य पुस्तक की भाषा सरल रखने का प्रयत्न किया है। किन्तु इस पुस्तक में मैंने कठिन-से-कठिन समस्याएं उठाने में संकोच नहीं किया है, इसलिए कहीं भाषा अनिवार्य रूप से कठिन हो गई होगी। पाठकों से मैं केवल यही निवेदन कर सकता हूं कि विचारों की गम्भीरता के अनुपात में वे इस पुस्तक की भाषा कठिन नहीं पायेंगे।

भाषा को सुबोध रखने के लिए मैंने पारिभाषिक शब्दों का कम-से-कम प्रयोग किया है। कुछ प्रचलित शब्दों के बदले दूसरे शब्द भी पसन्द किए हैं। उसका उद्देश्य भी पाठकों को यथाशक्ति अस्वाभाविक

व्यञ्जनाओं से बचाए रखना है। लाइबनिज़ के मोनाड को शक्त्यणु या आत्मकण न कह कर चिद्बिन्दु कहना मुझे ज्यादा रोचक लगा। इसी प्रकार रियलिज़्म का अनुवाद यथार्थवाद किया गया है और मैटीरियलिज़्म का जड़वाद; यह दोनों शब्द सामान्य भाषा के निकट हैं। हिन्दी-संसार के प्रसिद्ध विद्वान् श्री गुलाबराय की सम्मति थी कि 'आइडियलिज़्म' का अनुवाद प्रत्ययवाद ही किया जाय, अध्यात्मवाद नहीं, क्योंकि उक्त शब्द हिन्दी दार्शनिक ग्रन्थों में बराबर व्यवहृत होता है और अंग्रेज़ी शब्द का भाव भी देता है। किन्तु मुझे 'प्रत्ययवाद' शब्द में वाचकता नहीं लगती। दूसरे, वह विज्ञानवाद का पर्याय-सा जान पड़ता है। तीसरे, भले ही योरुपीय अध्यात्मवाद प्रत्यय-तत्त्व को प्रधानता देता आया हो, भारतीय वेदान्त में ऐसा नहीं है। वस्तुतः 'अध्यात्मवाद' में Idealism शब्द का पूरा लचीलापन है, और उसके अनुषंग (Associations) भी अंग्रेजी शब्दों से मिलते-जुलते हैं।

विभिन्न दर्शन-पद्धतियों का विस्तृत प्रतिपादन करना न तो इस पुस्तक का उद्देश्य था, और न सम्भव ही था। दर्शनों का केवल उतना ही विवरण दिया गया है जितना लेखक के तुलनात्मक निर्णयों का आधार स्पष्ट करने के लिए आवश्यक था। सम्भवतः 'विश्व की व्याख्या' अध्याय इस नियम का कुछ अंशों तक अपवाद कहा जा सकता है। किन्तु मेरा विश्वास है कि दर्शन-पद्धतियों की, विशेषतः योरुपीय दर्शनों की, समग्र-दृष्टि देने में यह अध्याय अवश्य ही सहायक होगा। विभिन्न दर्शनों के अधिक विशद विवरण के लिए हिन्दी-पाठक प्रस्तुत लेखक के 'भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास' और 'योरुपीय दर्शन' (जो, आशा है, शीघ्र तैयार हो जायगा) का अवलोकन कर सकते हैं।

दर्शनशास्त्र बहुत गहन विषय है, और पूर्व और पश्चिम के समग्र दर्शनों का सन्तोषप्रद अध्ययन करने के लिए पूरा जीवन भी काफ़ी नहीं है। इस विचार से मैं अपनी वाचालता पर लज्जित हो उठता हूं। किन्तु फिर भी जल्दी से जल्दी हिन्दी के पाठकों को विश्व के विचार-वैभव से

परिचित करा देने की इच्छा मुझे विवश कर देती है । 'ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है', यह उद्‌गार सदा की भांति आज भी सत्य है । विश्व की ज्ञानराशि को आत्मसात् करके ही हम भारतीय आगे बढ़ सकते हैं।

इस पुस्तक के तैयार करने में मुझे जिन-जिन पूर्वी और पश्चिमी लेखकों से सहायता मिली है, उन्हें धन्यवाद देने की चेष्टा व्यर्थ होगी। श्री गुलाबराय के कतिपय परामर्शों से मैं लाभान्वित हुआ हूं । मेरे सहयोगी प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा ने अपने स्वर्गीय पिता पं० श्री-रामावतार शर्मा की लाइब्रेरी का स्वच्छन्द उपयोग करने दिया; एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूं । जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा, के भूतपूर्व सहृदय अध्यक्ष श्री पं० भुजबली शास्त्री का भी मैं आभारी हूं । इन सज्जनों की सहायता के बिना सम्भवतः मुझे यह पुस्तक लिखने का साहस भी नहीं होता, क्योंकि आरा जैसे स्थान में आवश्यक पुस्तकें मिलना नितान्त कठिन था। इसके अतिरिक्त मैंने समय-समय पर पटना यूनिवर्सिटी-लाइब्रेरी का भी उपयोग किया है, इसके लिए उसके अधिकारियों को धन्यवाद देता हूं।

सितम्बर, १९४४
जैन कालेज, आरा

देवराज

संक्षेप संकेत-विवरण

ऋ०	ऋग्वेद
उप०	उपनिषद्
छा०	छान्दोग्य उपनिषद्
तै०	तैत्तिरीय उपनिषद्
बृह०	बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्र० शा० भा०	ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य (रत्नप्रभा भामती-न्याय-निर्णय सहित)
वि० प्र० सं०	विवरणप्रमेयसंग्रह
भा०	भाष्य
न्या०	न्याय भाष्य (वात्स्यायनकृत)
मनु०	मनुस्मृति
हि० इ० ला०	हिस्टरी ऑफ इण्डियन लॉजिक
मुं०	मुण्डकोपनिषद्
सं०	संस्करण, संस्कृत
सी०	सीरीज़

अन्य संक्षेप सहज ही समझ में आ सकेंगे ।

विश्लेषणात्मक विषय-सूची

: १ :

दर्शन की समस्या, प्रयोजन और महत्त्व—देश-काल एवं जातीय संस्कारों के भेद से पूर्वी और पश्चिमी दर्शन की धारणा में भी भेद है—थेलीज प्रभृति प्राचीन यूनानी विचारक दृश्यमान जगत् की व्याख्या करना चाहते थे—सोफिस्ट शिक्षकों के उदय तक यूनानी दर्शन की यही समस्या रही—सोफिस्ट संशयवाद ने नीतिशास्त्र और ज्ञान-मीमांसा (सम्वित्-शास्त्र) को जन्म दिया—व्याख्येय विश्व की सीमा बढ़ी, प्लेटो और अरस्तू में दार्शनिक समस्या ने प्रौढ़रूप पा लिया। मध्य-युग या धार्मिक काल—इस युग में वास्तविक जिज्ञासा का अभाव था और दर्शन का काम धार्मिक सिद्धान्तों का मण्डन रह गया। आधुनिक काल—डेकार्ट की आत्म-जिज्ञासा में विशेष रुचि नहीं है; वह भी मुख्यतः भौतिक जगत् की व्याख्या करना चाहता है—डेकार्ट में यन्त्रवाद का जन्म हुआ जिसे स्पिनोजा ने पूर्ण रूप दिया— लाइबनिज़ भी यन्त्रवादी है—लाक की ज्ञान मीमांसा ने ह्यूम के संशयवाद को जन्म दिया—काण्ट का ह्यूम को उत्तर उसकी विश्व-व्याख्या की अभिरुचि का द्योतक है—हीगल भी विश्व की व्याख्या में प्रवृत्त होता है—आधुनिक बर्गसां, क्रोचे, एलेक्जेण्डर आदि भी यही कर रहे हैं—निष्कर्ष यह है कि योरुपीय दर्शन की समस्या समस्त विश्व की व्याख्या है, विशेष रूप से ईश्वर या आत्मा का ज्ञान अथवा मोक्षादि नहीं।

भारतीय दर्शन—उपनिषद् विश्व की व्याख्या का प्रयत्न करते हुए भी आत्मा की ज्ञेयता पर जोर देते हैं—वैशेषिक और सांख्य मुख्यतः विश्व की व्याख्या करते हैं जबकि वेदान्त आत्म-जिज्ञासा को आगे बढ़ाता है—भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति सप्रयोजन अर्थात् मोक्ष के लिए है—किन्तु इससे दर्शन का महत्त्व कम नहीं होता, वह मोक्ष का अनन्य साधन

है—उत्तरकालीन भारतीय दर्शन में भी जिज्ञासा-वृत्ति तीव्र रहती है, अतएव उसकी तुलना ईसाई दर्शन से नहीं हो सकती। (पृष्ठ १-२३)

: २ :

सम्वित्-शास्त्र या ज्ञान-मीमांसा—भारतीय दर्शन में संदेहवाद का अभाव—संदेहवाद अयुक्त है---योरुपीय दर्शन बुद्धिवादी है, उसने प्रत्यक्ष ज्ञान की उपेक्षा की है—भारतीय तर्क-शास्त्र के अनुसार अनुमान भी प्रत्यक्ष पर निर्भर है क्योंकि व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष-सापेक्ष है--अरस्तू इस सापेक्षता को नहीं समझ सका—इसीलिए योरुप में आगमन-शास्त्र (Inductive Logic) का देर से उदय हुआ—न्याय के अन्वय-व्यतिरेक और मिल का Joint Method समान हैं। युक्ति या तर्क--योरुप में युक्ति अनुमान-रूप है—भारतीय दर्शन में युक्ति की दो विभिन्न व्याख्याएं की गई हैं, एक के अनुसार वह प्रमाणों से भिन्न है और दूसरी के अनुसार अनुमान और अर्थापत्तिरूप--तर्क की आलोचना--ब्रेडले आदि योरुपीय विचारक तर्क को अपूर्ण कहते हुए भी उसी का प्रयोग करते हैं—शङ्कराचार्य अनुमान-मूलक तर्क को, जो अनुभव पर आश्रित होता है, ग्राह्य मानते हैं—सम्भावना-असम्भावना की आलोचना-रूप तर्क, कोरा युक्तिवाद, अप्रतिष्ठित है। प्रत्यक्ष का विश्लेषण, बर्गसाँ और वेदांत बर्गसा यह नहीं बता पाता कि आत्मा के अतिरिक्त पदार्थों का प्रत्यक्ष कैसे होता है--वेदान्त सब प्रकार के प्रत्यक्ष की व्याख्या करता है। ज्ञान का स्वरूप—ज्ञान मीमांसा और तत्त्वमीमांसा का अन्योन्याश्रयभाव—वेदान्त का ज्ञान-विश्लेषण प्रधानतः प्रत्यक्ष ज्ञान को लक्षित करता है--योरुपीय दर्शन ज्ञान को प्रत्ययात्मक समझता है, यह बात लॉक के सम्बन्ध में उतनी ही ठीक है जितनी कि काण्ट के। प्रमा और प्रामाण्य—न्याय का सम्वादितावाद—प्लेटो और वेदान्त ध्रुव पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं। संगतिवाद (Coherence Theory) और अनेकान्तवाद दोनों के अनुसार हमारे सब कथन अंशतः सच्चे और अंशतः झूठे होते हैं—किन्तु संगतिवाद का आधार विश्वतत्त्व की समष्टि-रूपता है जबकि अनेका-

न्तवाद का आधार दार्शनिक अनेकवाद (Pluralism) है । उपयोगितावाद—परतः प्रामाण्यवादी है—परतः प्रामाण्य अनवस्था में फंसा देता है—सगतिवाद स्वतः प्रामाण्यवादी है, किन्तु उसका स्वतः प्रामाण्य भारतीय स्वतः प्रामाण्य से भिन्न है । (पृष्ठ ३३–७०)

३

विश्व की व्याख्या—यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद—भारतीय दर्शन ने विश्व की केवल दो महत्वपूर्ण व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं अर्थात् वैशेषिक और साख्य में वैशेषिक का दृष्टिकोण स्थित्यात्मक है; उसकी व्याख्या का अस्त्र वर्गीकरण है—साख्य का दृष्टिकोण गत्यात्मक है—साख्य का विकासवाद स्पेन्सर के विकास-सिद्धान्त से आश्चर्यजनक समता रखता है—साख्य का स्वर यन्त्रवादी है, उसका प्रयोजनवाद अधूरा और असंगत है । वेदान्त का विश्व की व्याख्या में अनुराग नहीं है, किन्तु वह विश्व को अज्ञेय या अव्याख्येय नहीं बताता—अनिर्वचनीय का अर्थ विरोधग्रस्त या अव्याख्येय नहीं है, अनिर्वचनीय नागार्जुन के निःस्वभाव से भी भिन्न है । यूनानी दर्शन में डिमोक्राइटस यन्त्रवादी है, पर वहा के प्रमुख विचारक, प्लेटो और अरस्तू, प्रयोजनवादी हैं—प्लेटो का श्रेयस-प्रत्यय विश्व-प्रक्रिया का चरम-हेतु (Final cause) भी है—अरस्तू का विकासवाद प्रयोजन-मूलक होते हुए भी उन्नतिवाद नहीं है। आधुनिक दर्शन का पिता डेकार्ट यन्त्रवाद का भी जनक है,—स्पिनोजा में यन्त्रवाद का चरम विकास हुआ—प्रयोजनवाद का चरम उत्कर्ष हीगल में पाया जाता है । अध्यात्मवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने वैज्ञानिक यन्त्रवाद को जन्म दिया—डार्विन का प्रभाव—स्पेन्सर और हेकेल ने क्रमशः विकासवादी यन्त्रवाद और जड़ाद्वैतवाद का प्रचार किया । बर्गसां का सृजनात्मक विकासवाद और एलेक्जेण्डर का नव्योत्क्रान्तिवाद नूतनताओं के आविर्भाव को संभव मानते हैं—योरुपीय विश्व व्याख्याओं की विविधता का कारण विज्ञान द्वारा अनुभव-वृद्धि है। (पृष्ठ ७१–१२२)

: ४ :

अध्यात्मवाद—की कमसे कम तीन प्रसिद्ध परिभाषाएं है—प्रयोजनवादी दर्शन अध्यात्मवादी कहलाते रहे हैं—चरम-तत्त्व की चिदात्मकता का सिद्धान्त वेदान्त को अध्यात्मवाद बना देता है—सम्वित्-शास्त्रीय (Epistemological) अध्यात्मवाद (ब्रेडले, क्रोचे आदि) ज्ञेय को ज्ञाता की चेतना से निर्धारित मानता है। भारतीय तथा योरुप के अध्यामवादियों में कतिपय समानताएं, पर अनेक विषमताएं हैं—विज्ञानवाद और बर्कले, ब्रेडले और नागार्जुन के निष्कर्षों में समानता—किन्तु "स्पिरिट" भिन्न है—भारतीय अध्यात्मवाद परब्रह्म और विश्व-प्रक्रिया को समीकृत (Equate) नहीं करता, पर योरुपीय अध्यात्मवाद प्रायः यह करता है—तात्त्विकता के दर्जे भी योरुपीय विशेषता है—भारतीय ब्रह्म प्रायः, उपनिषद् काल के बाद, निष्प्रपञ्च कल्पित किया गया है—सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवाद और वेदान्त में विशेष साम्य नहीं है—अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म चिदात्मक है, इस दृष्टि से उसका प्लेटो, हीगल आदि से भेद—वेदान्त ब्रह्म को आत्म-रूप तथा स्वयंसिद्ध घोषित करता है, योरुपीय पद्धतियों में ब्रह्म की सत्ता या तो अनुमेय तथा अनिश्चित तर्क पर निर्भर है, या कोरी कल्पना—वेदान्त का आत्मतत्त्व काण्ट की धारणाओं से भी अधिक अनुभव का आधार है—प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि इसे बिना माने मोक्ष न हो सकेगी--ब्रह्म और प्रपञ्च का सम्बन्ध अध्यासमूलक है, वेदान्त की मौलिकता—आरम्भवाद और सत्कार्यवाद का समन्वय—माया को ज्ञान द्वारा विलेय मानना आवश्यक नहीं। (पृष्ठ १२३-१६२)

: ५ :

नीतिधर्म और साधना—भारतवर्ष में नीतिधर्म मोक्षधर्म (रिलीजन) पर निर्भर रहा, स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित नहीं हुआ—नीति शास्त्र स्वतन्त्र रूप में मानवीय नैतिक चेतना की व्याख्या है, भारत में नीतिधर्म मोक्ष की 'साधना' बन गया—तीन प्रकार के योरुपीय नीतिवाद—

—अनुभववादी नीतिशास्त्र (Intuitionism) अन्तरात्मा या सदसद्बुद्धि को प्रमाण मानता है—लक्ष्यवादी नीतिशास्त्र (Theories of End) के दो रूप हैं, सुखवाद एवं उपयोगितावाद और अध्यात्मवाद—— योरुपीय अध्यात्मवाद का आत्म-लाभ का आदर्श ऐहलौकिक है——योरुपीय दर्शन की मोक्षधर्म या रिलीजन से विमुखता—— भारतीय नीतिधर्म की तुलना में योरुपीय नीतिशास्त्र व्यक्तिवादी है। भारतीय नीतिशास्त्र की विशेषताएं—— वह वर्धिष्णु और परमतसहिष्णु है, वह आदेशरूप होते हुए भी लक्ष्यवादी और सुखवादी है-वर्णाश्रम-व्यवस्था विश्व-जनीनता सिखाती है, व्यक्तिवाद से विरोध—भारतीय नीतिधर्म का लक्ष्य, अहंता का उच्छेद और असीम से एकात्मकता—अतएव सन्यास का आदर्श व्यक्तिवादी नहीं है––विभिन्न मार्गों या साधना-प्रकारों की एकता, सब का उद्देश्य अहंता का नाश और ब्रह्मभाव की प्राप्ति है—भारतीय नीतिशास्त्र की प्रवृत्ति अभावात्मक नहीं है, भारतीय चेतना अंततः सुखाकाङ्क्षिणी है, जैसा कि संस्कृत काव्यादि से प्रकट है।

आवश्यक संशोधन

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	४ (नीचे से)	यद्यपि	×
६३	२०	स्याद्वाद	संगतिवाद
६३	अन्तिम	हमारे तुलाना	यह हमारे तुलना
१६२	,,	(दे० पृ० इत्यादि)	×

पृ० ८१-८२—स्पेन्सर के विकास-सूत्र में सरल (Simple) और जटिल के बदले क्रमशः अनिश्चित रूपरेखा वाले (Indefinite) और निश्चितरूप (Definite) होना चाहिए।

पूर्वी और पश्चिमी दर्शन

: १ :

दर्शन की समस्या, प्रयोजन और महत्त्व

प्रारम्भिक---यदि विभिन्न दार्शनिकों को एकत्रित करके उनसे पूछा जाय कि दर्शनशास्त्र किसे कहते हैं तो वे सम्भवतः कोई एक उत्तर नहीं देंगे। दर्शन की धारणा के विषय में यह मतभेद जिज्ञासु को निराश या निरुत्साहित कर सकता है। किन्तु वास्तव में स्थिति इतनी असन्तोषजनक नहीं है। उन्हीं दार्शनिकों से दर्शन की परिभाषा पूछने के बदले यदि उस पर एक वर्णनात्मक पैराग्राफ लिखने को कहा जाय तो उनमें इतनी मत-भिन्नता न होगी। बात यह है कि किसी वस्तु का लक्षण करने की अपेक्षा उसका वर्णन करना अधिक सरल है, विशेषतः यदि वह वस्तु दर्शनशास्त्र की भांति जटिल एवं अनेक अंगोंवाली हो। ऐसी वस्तु की परिभाषा करते समय विभिन्न विचारक उसके विभिन्न तत्त्वों या पहलुओं पर गौरव देने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके मतभेद की सीमा नहीं रहती।

हमने कहा कि विश्व के विभिन्न दार्शनिक दर्शनशास्त्र का वर्णन करने में उसके जो चित्र खींचेंगे उनमें कुछ समानता अवश्य रहेगी। दर्शनशास्त्र में किन-किन समस्याओं पर विचार होता है, यह प्रायः दर्शन के सभी गम्भीर विद्यार्थी जानते होंगे। इस लिये, दर्शन का वर्णन करते समय, यद्यपि वे उन सभी प्रश्नों की ओर इंगित कर सकेंगे जिन पर प्राचीनकाल से अब तक दार्शनिक लोग विचार करते आये हैं, यद्यपि यह सम्भव है कि विभिन्न व्याख्याता विभिन्न समस्याओं को अधिक महत्त्वपूर्ण घोषित करें।

किन्तु हमें भय है कि दर्शन के विषय में यह वर्णनात्मक ऐक्य भी एक सीमा तक ही प्राप्त हो सकेगा। बात यह है कि यद्यपि दर्शन के विद्यार्थी अपनी दृष्टि को अधिकतम व्यापक बनाने की चेष्टा करते हैं, फिर भी वे अपने देश-काल के वातावरण (Environment), अपनी जाति और देश के वर्तमान और अतीत पक्षपातों एवं संस्कारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। विज्ञान की उन्नति और ऐतिहासिक खोजों ने विभिन्न देशों और उनके राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहासों को एक-दूसरे की समीपता में उपस्थित कर दिया है सही, फिर भी, रूढ़िगत संस्कारों की प्रबलता और राष्ट्रीय तथा जातीय अभिमान के कारण, अथवा अध्ययन के लिए शक्ति तथा समय के सीमित होने के कारण, दूरवर्ती देशों के विचारक आसानी से एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझ और अपना नहीं पाते। इसलिए हमें यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि दर्शनशास्त्र की समस्या और प्रयोजन के सम्बन्ध में पूर्वी और पश्चिमी विचारकों ने नितान्त भिन्न मत स्थिर किये हैं।

योरुपीय दर्शन

अनिवार्य वैयक्तिक मतभेदों के होते हुए भी वर्तमान योरुप और अमेरिका के विचारक दर्शनशास्त्र का लगभग एक ही चित्र खींचेंगे। यही बात भारतवर्ष के प्राचीन विचारकों के बारे में कही जा सकती है। भारतीय दर्शन में महत्त्वपूर्ण चिन्तन प्रायः प्राचीन काल में ही (ईसा की बारहवीं शताब्दी तक) हुआ है, इसलिए आधुनिक और प्राचीन भारतीय विचारकों के दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य या समानता होने-न-होने का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु योरुप की बात दूसरी है, वहा पिछली तीन-चार शताब्दियों में बड़ी वेगपूर्ण दार्शनिक प्रगति रही है और वहा के विषय में उपर्युक्त प्रश्न काफी महत्त्व रखता है। योरुपीयों का विचार है कि जीवन एवं दर्शन के प्रति उनका वर्त्तमान दृष्टिकोण यूनानियों से विशेष भिन्न नहीं है, किन्तु वह मध्य-युगीय योरुप के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है।

दर्शनशास्त्र की समस्या और प्रयोजन के सम्बन्ध में वर्त्तमान योरुप की कुछ सर्वसम्मत धारणाएँ हैं। दार्शनिक-प्रक्रिया के प्रयोजन के बारे में योरुप की वर्त्तमान धारणा यह है कि दर्शक का उसके बाहर कोई उद्देश्य या प्रयोजन नहीं है। दर्शन या दार्शनिक चिन्तन का ध्येय स्वयं वहीं है, दर्शन दर्शन के लिए है।* आधुनिक व्याख्याताओं के अनुसार यूनानी दर्शन भी अपने से बाहर किसी ध्येय को लेकर प्रवृत्त नहीं हुआ था—यूनानियों के निकट भी दार्शनिक चिन्तन स्वयं ही अपना साध्य था। दर्शन की समस्या क्या है? वतमान योरुप के विचारक दर्शन और विज्ञान में काफ़ी समानता देखते हैं।‡ दोनों की प्रवृत्ति ज्ञान के लिए है; दोनो की प्रेरणा निरुपयोगी जिज्ञासा-वृत्ति है। विज्ञान की भांति दर्शन भी अपने अन्वेषणों में एक विशेष पद्धति या प्रणाली का आश्रय लेता है।† दोनों में मुख्य भेद यही है कि विज्ञान की अपेक्षा दर्शन का क्षेत्र अधिक विस्तृत या व्यापक है। अपने क्षेत्रों को सीमित रखकर जहा विभिन्न विज्ञान अपनी-अपनी विषय-वस्तु का अधिक विस्तृत और पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, वहां दर्शन सम्पूर्ण विश्व के बारे में कतिपय अत्यन्त सामान्य या व्यापक प्रश्न ही उठा सकता है और उन्हीं पर आलोचना-प्रत्यालोचना द्वारा अपने सिद्धान्त प्रतिपादित कर सकता है। विज्ञान की अपेक्षा दर्शन में कम सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता होती है, किन्तु उसमें कल्पना-शक्ति का अधिक प्रयोजन रहता है §

* 'कला कला के लिए है,' इस सिद्धान्त की जो कुछ दिन पहले योरुप में बहुत प्रसिद्ध था, टॉलस्टॉय जैसे मनीषियों ने काफी आलोचना की है (दे० उनका What is Art?); किन्तु 'दर्शन दर्शन के लिए है', इस विषय में योरुप में कभी गम्भीर मतभेद नहीं हुआ। ‡ देखिये ए० के० रोजर्स, A Student's History of Philosophy, पृष्ठ १–२।

† दे० फ़ाल्किनवर्ग, History of Modern Philsophy, पृ० १

§ दे० Science and the Modern World by Whitehead (Penguin), पृ० १८

ज्ञान और जिज्ञासा की दृष्टि से दर्शन-शास्त्र को सार्वभौमविज्ञान (Universal Science) कह सकते हैं। आधुनिक पण्डितों के अनुसार दर्शन के मुख्य अवयव तत्त्व-मीमांसा (Ontology), ज्ञान-मीमांसा या सम्वित् शास्त्र (Epistemology) और नीति अथवा व्यवहारशास्त्र (Ethics) है । इनमें सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) को और जोड़ा जा सकता है। तत्व पदार्थ कितने है और उनका स्वरूप क्या है, इस प्रश्न पर तत्त्व-मीमांसा में विचार होता है। सम्वित्-शास्त्र में ज्ञान के स्वरूप, सम्भावना और सीमा के निर्णय करने का प्रयत्न रहता है। कभी कभी दर्शन से इन्हीं दो शाखाओं का अभिप्राय रहता है। इन दो शाखाओं को मिलाकर अँग्रेज़ी में Metaphysics कहते है। नीतिशास्त्र का विषय मनुष्य का नैतिक जीवन और उसके धर्माधर्म सम्बन्धी निर्णय हैं। इस प्रकार आधुनिक योरुपीय व्याख्याताओं के अनुसार दर्शन का काम अनुभव जगत् के विभिन्न विभागों की अलग-अलग और सम्मिलित व्याख्या करना है।* दर्शनशास्त्र अनुभव जगत् का विभाजन एक खास दृष्टिकोण से करता है जिसके अध्ययन के लिए उसकी विभिन्न शाखाएँ हैं।

दार्शनिक समस्या और प्रयोजन का उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण हमने योरुप के वर्त्तमान दार्शनिक साहित्य के आधार पर दिया है योरुपीय दर्शन की आलोचना और व्याख्या करते समय हम अपने समकालीन योरुप के व्याख्याताओं की अवहेलना नहीं कर सकते । वर्त्तमानकालिक दर्शन के सम्बन्ध में ही नहीं, प्राचीन दर्शन की व्याख्या में भी हमें उसके वर्त्तमान व्याख्याताओं की सम्मतियों से परिचित होना आवश्यक हो जाता है। अब हम योरुपीय दर्शन की समस्या के विकासशील अनेकात्मक स्वरूप को ठीक से समझने के लिए वहां के चिन्तन के सम्पूर्ण इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे। पाठकों को याद रखना चाहिये कि यह इतिहास लगभग छठवीं शताब्दी ई० पू० से प्रारम्भ होकर हमारे अपने समय तक

* दर्शन की शाखाओं के विवरण के लिए दे० An Outline of Modern Knowledge पृ० ५४३-४७

अक्षुण्ण भाव से निर्मित और विकसित होता आया है।

प्राचीन यूनानी विचारक—प्राचीन यूनानी चिन्तन का आरम्भ एशिया माइनर के आयोनिया नामक प्रान्त में हुआ। जैसा कि भूगोल के विद्यार्थी जानते हैं एशिया माइनर योरुप की अपेक्षा एशिया महाद्वीप से अधिक सम्बद्ध है। यह बहुत सम्भव है कि यूनानी चिन्तन के वहां प्रारम्भ होने का मिश्र तथा अन्य प्राचीन पूर्वी सभ्यताओं की समीपता से कोई सम्बन्ध था किन्तु यहां पर हम इसका विचार नहीं करेंगे। यहां हम यह मान लेंगे कि यूनान में चिन्तन की प्रेरणा स्वयं वहीं की भूमि से मिली। प्राचीन यूनानी विचारकोंने दार्शनिक समस्या को किस रूप में समझा, और उनका चिन्तन किस प्रयोजन को लेकर प्रस्फुरित हुआ, यहां हम इसीका विचार करेंगे।

यूनानी चिन्तन का आरम्भकर्त्ता थेलीज़ (६४०–५५० ई० पू०) बताया जाता है। उसके दार्शनिक विचारों का कोई विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है। उसका एक ही दार्शनिक विचार ठीक-ठीक मालूम है। थेलीज ने कहा कि 'सब चीज़ों का कारण जल है।' विश्व जगत् का मूलतत्त्व जल है। थेलीज़ के बाद एनग्जीमेण्डर ने मूलतत्त्व को "निर्विशेष" या "अनिर्वाच्य" कथित किया। इस निर्विशेष या अनिर्वाच्य से, एनेग्ज़ीमेण्डर के मत में, विरुद्ध गुण उद्भूत होते हैं। तीसरे विचारक एनेग्ज़ीमिनीज़ (५६०–५२५ ई० पू०) ने कहा कि विश्व का मूलतत्त्व वायु है। जब वायु घनीभूत होती है, तब उससे पिण्ड पदार्थ बनते हैं; उसके विरल-भाव से सूक्ष्म पदार्थों का जन्म होता है।

आयोनिया के इन प्रारम्भिक विचारकों के लिए दर्शनशास्त्र की समस्या और प्रयोजन क्या थे? यह स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य दीखने वाले विविध जगत्के मूल कारण का निर्देश करना था। यही नहीं, मूलतत्त्व का स्वरूप निर्धारित करने के लिए उन्होंने ऐसे पदार्थ की कल्पना करने की चेष्टा की जो भौतिक जगत् के विभिन्न तत्त्वों को उत्पन्न कर सके। यह दार्शनिक एक ऐसे उपादान कारण की खोज में थे जिसमें से जड़ जगत्

के विभिन्न पदार्थों का उद्भव या निस्सरण सम्भव हो। अर्डमान का मत है कि इन आदिम विचारकों की अभिरुचि मुख्यतः स्थिरता और परिवर्त्तन की धारणाओं में थी, न कि विशिष्ट स्थिर या परिवर्त्तनशील पदार्थों में,* किन्तु यह व्याख्या अस्वाभिक प्रतीत होती है। सीधी बात यह है कि ऊपर के विचारक यह जानना चाहते थे कि जड़ जगत के नाना पदार्थ किसी एक पदार्थ का विकार समझे जा सकते हैं। एनेग्ज़ीमेण्डर की घन-विरलभाव की कल्पना यह भी स्पष्ट कर देता है कि वे विचारक, 'एक पदार्थ अनेक रूप कैसे धारण कर सकता है,' इस प्रश्न का भी उत्तर पाना चाहते थे। इसका स्पष्ट आशय यह है कि वे जड़-जगत के विविधरूपों को किसी प्रकार एकता के सूत्र में बांधकर समझना, अथवा उनकी व्याख्या करना चाहते थे। वास्तविकताओं (Facts) के किसी समूह की व्याख्या करने का अर्थ उन्हें किसी प्रकार एक करके देखना है। आयोनिया के विचारक भी विश्व के विभिन्न रूपों को किसी एक में केन्द्रित करके उन्हें बुद्धिगम्य बनाना चाहते थे। आदिम विचारकों की दृष्टि में भौतिक जगत ही एकमात्र वास्तविकता थी। अभी जीव-जगत् जड़-जगत् का ही एक भाग प्रतीत होता था—जीवित और जीवनहीन में अभीतक भेदक रेखा नहीं खींची गई थी। जीवन के व्यापार भी जड़-जगत् के व्यापारों से अलग महत्त्व नहीं रखते थे। इस प्रकार उन विचारकों की दृष्टि सीमित थी। किन्तु फिर भी उन्होंने, जितना जगत् दिखाई देता था, उस सबको एक दृष्टि और एक व्याख्यात्मक धारणा (Explanatory Principle) में बाधने का प्रयत्न किया। इस लिए, यद्यपि वे आधुनिक अर्थ में प्रायः वैज्ञानिक ही थे, तथापि उन्हें दार्शनिक ही कहना चाहिये।

योरुपीय दर्शन के इतिहासकार आयोनिया के इन विचारकों की प्रशंसा करते हुये कहते हैं कि उन्होंने एक वास्तविक दार्शनिक प्रश्न पूछा, यह धार्मिक प्रश्न नहीं कि इस जगत को किसने बनाया ? धार्मिक और दार्शनिक प्रश्नों की धारणा अथवा परिभाषा में मतभेद

* दे० A History of Philosophy (१८६८), भाग १, पृ० २६

हो सकता है। पर इसमें सन्देह नहीं कि उक्त विचारकों ने शुद्ध दार्शनिक प्रश्न उठाया। यहा हमें इसका निर्णय नहीं करना है कि उन्होंने ऊपर के प्रश्न में जो उत्तर दिये, उनका क्या महत्त्व है—इतने प्राचीन काल में महत्त्वपूर्ण समाधानों की खोज व्यर्थ है। देखने की बात केवल यही है कि इन अत्यन्त प्राचीन विचारकों ने दर्शनशास्त्र का उसके बाहर कोई प्रयोजन नहीं बतलाया और साथ ही अपनी चिन्तन-प्रणाली से इस बात का आभास दिया कि दार्शनिक-प्रक्रिया का उद्देश्य, उसकी प्रमुख समस्या, दीखने वाले जगत की व्याख्या करना, उसे बुद्धिगम्य बनाना है।

सुकरात से पहले के प्रायः सभी यूनानी दार्शनिकों में दर्शन की समस्या का यही रूप रहता है। पाइथेगोरस, हेराक्लाइटस, एम्पीडॉक्लीज़, एनेग्ज़ेगोरस और डिमोक्राइटस सभी थेलीज़ के उठाये हुये प्रश्न का हल करने में लगे हुये दिखाई देते हैं। इस नियम का एकमात्र अपवाद पार्मिनिडीज़ है। पार्मिनिडीज़ और उसके शिष्यों की आलोचना के फलस्वरूप दर्शन की गति एकवाद को छोड़कर अनेकवाद की दिशा में मुड़ गई।

पार्मिनिडीज़ की इस अपवादात्मकता का क्या रहस्य है? प्रो० बर्नेट तथा अन्य आधुनिक अनुसंधान-कर्त्ताओं के अनुसार हम मान लेते हैं कि पार्मिनिडीज़ का चिन्तन हेराक्लाइटस का परवर्त्ती है। हेराक्लाइटस से पहले पाइथेगोरस ने 'विश्व की वस्तुएँ संख्यात्मक हैं' यह विचित्र सिद्धान्त प्रतिपादित करके यूनानी दर्शन में पहली बार पदार्थ और उसके सारभूत आकार या "फार्म" का भेद करने की चेष्टा की। किन्तु उसकी "फार्म" की कल्पना उसीतक सीमित रही; उसके निकटवर्त्ती उत्तराधिका-कारियों ने उक्त कल्पना को ग्रहण नहीं किया।* हेराक्लाइटस ने फिर

*पाइथेगोरस ने दर्शन के प्रयोजन के बारे में एक नई बात कही, यह कि वह आत्मा की शुद्धता का सर्वश्रेष्ठ साधन है। विद्वानों का अनुमान है कि इस विचारक पर पूर्वी देशों का प्रभाव पड़ा था। पाइथे-

विश्व के मूल-तत्त्व-विषयक प्रश्न को उठाया। अपना समाधान देते हुये इस विचारक ने कहा कि मूल-तत्त्व वस्तुतः प्रवाहमय है, और स्थिरता की प्रतीति केवल भ्रम है। हेराक्लाइटस की क्रान्तिदर्शिनी दृष्टि को विश्वजगत् अनवरत घटित होने वाले परिवर्त्तनों की शृंखलामात्र जान पड़ा। उसने कहा कि मूल-तत्त्व अग्निरूप है।

पार्मिनिडीज़ के चिन्तन का आधार दृश्य जगत् का अनुभव नहीं, अपितु पूर्ववर्त्ती विचारकों के सिद्धान्त हैं। हेराक्लाइटस मानता है कि मूल-तत्त्व एक है, साथ ही वह यह भी मानता है कि यह एक तत्त्व गति-मय, प्रवाहमय है। यह दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं। यदि मूल-तत्त्व एक है तो उसमें गति नहीं हो सकती। "एक" किसी एक स्थान से दूसरे स्थान में तभी जा सकता है जब कोई स्थान "एक" से भिन्न हो। खाली जगह या शून्याकाश की तो सत्ता ही नहीं है, वह अलीक है, इसलिए "एक" में गति या परिवर्त्तन नहीं हो सकता। पार्मिनिडीज़ में विश्व-सम्बन्धी निरीक्षण या अनुभव का स्थान युक्तिवाद ने ले लिया।

पार्मिनिडीज़ के बाद के दार्शनिक अपने को इस कोरे युक्तिवाद के जाल से बचाकर फिर उसी पुरानी समस्या का हल करने में लग गये। पार्मिनिडीज़ ने यह स्पष्ट कर दिया था कि मूल-तत्त्व को एक मानने पर उसमें गति या परिवर्त्तन की सम्भावना नहीं सिद्ध की जा सकती। इस पर परवर्त्ती विचारकों ने मूल-तत्त्व की एकता का आग्रह छोड़ दिया। एम्पोडॉक्लीज़ ने कहा कि मूल तत्त्व चार हैं, एनेग्ज़ेगोरस ने बतलाया कि मूल-तत्त्व अनन्त-बीजात्मक है। और ल्यूकिपस तथा डिमोक्राइटस ने घोषणा की कि मूल-तत्त्व असंख्य परमाणुओं का समूह है। अन्तिम विचारक ने गति की सम्भावना के लिए शून्याकाश की वास्तविकता में

गोरस के इस मतका अनुवर्त्ती दर्शन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। पाठकों को यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि पाइथेगोरस की आत्मा भी अन्य वस्तुओं की भांति संख्यात्मक है। (दे० अर्डमान, भाग १, पृ० ३५-३६)

भी विश्वास प्रकट कर डाला। इस प्रकार थेलीज़ के उठाये हुये प्रश्न का एक बहुत ही पूर्ण और संगत उत्तर मिल गया।

इसी बीच दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में एक नई समस्या का बीज पड़ रहा था। हेराक्लाइटस ने साफ शब्दों में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को अप्रामाणिक घोषित नहीं किया था; उसके चिन्तन में मानवी बुद्धि ने आत्म-विश्वास अथवा आत्म-महत्ता की अधिकारपूर्ण घोषणा मात्र की थी। किन्तु हेराक्लाइटस के बाद पार्मिनिडीज़ ने यह स्पष्ट कह दिया कि चक्षु आदि इन्द्रिया विश्वसनीय नहीं हैं। पार्मिनिडीज़ ने ज्ञान के स्वाभाविक स्रोत, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, में पहली बार गम्भीर अविश्वास प्रकट किया। इसके बाद जब एम्पीडाक्लीज ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि 'समान के द्वारा समान जाना जाता है'—हम बाह्य पदार्थों को इस-लिए जान सकते हैं कि हममें वे चारों तत्त्व मौजूद हैं जिनसे जगत का निर्माण हुआ है,—तो अज्ञातभाव से उसने यह मान लिया कि हमें 'ज्ञान कैसे सम्भव होता है' इस प्रश्न पर भी विचार करना चाहिये। एम्पीडॉक्लीज़ के बाद डिमोक्राइटस ने भी पार्मिनिडीज़ की भांति इन्द्रियों पर विश्वास करने से इनकार कर दिया और बताया कि रूप, रस, स्पर्श आदि गुण जो हमें इन्द्रियों के माध्यम से वस्तुओं में दिखाई देते हैं, वास्तव में वस्तुओं के धर्म नहीं हैं; वे इन्द्रियों की कल्पनामात्र हैं। विश्व-जगत् में परमाणुओं और गति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

सोफिस्ट-संशयवाद—इस प्रकार यूनान की दार्शनिक चेतना में धीरे धीरे निश्चयात्मक ज्ञान की सम्भावनाविषयक शंका अंकुरित हो रही थी। ज्ञान अथवा ज्ञान के स्रोत के सम्बन्ध में एक बार सन्देह हो जाने-पर फिर उसे इच्छित सीमा के भीतर रखना सम्भव न था। यूनान की तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थिति ने भी संशयवाद के पल्लवित होने में सहायता दी। दर्शनशास्त्र के प्रारम्भिक प्रश्न का काफी सन्तोषप्रद उत्तर दिया जा चुका था, उस दिशा में विशेष उन्नति की आशा न थी। साथ ही साथ इस समय यूनान का आसपास के देशों से

भौतिक एवं राजनैतिक सम्पर्क बढ़ रहा था। परिणाम यह हुआ कि यूनानी मस्तिष्क व्यावहारिक प्रश्नों की ओर झुकने लगा। अधीत नागरिकों की गोष्ठियां में कर्त्तव्याकर्त्तव्य-सम्बन्धी चर्चा और विवाद होने लगे। सोफिस्ट शिक्षकों ने, जिनका मुख्य काम युवकों को राजनैतिक वाद-विवादों एवं अन्य शासन-सम्बन्धी चर्चाओं के लिए कुशल बनाना था, पहले-पहल व्यवहार-क्षेत्र में संशयवाद का प्रवेश कराया। उन्होंने कहा:—कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भेद काल्पनिक है; वह परम्परागत पक्षपातों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मनुष्य जिसे धर्मसंगत समझ ले, वह कर्त्तव्य है; और सब मिलकर जिसे पाप ठहरादें, वह अकर्त्तव्य है। वास्तव में पाप और पुण्य में आत्यन्तिक भेद नहीं है। प्रसिद्ध सोफिस्ट प्रोटेगोरस ने घोषणा की कि—'सब चीजों का माप या माप-दण्ड मनुष्य है।'

इस प्रकार दर्शन-शास्त्र में एक दूसरी समस्या का जन्म हुआ। क्या निश्चयात्मकज्ञान या प्रमा सम्भव है? यदि सत्यासत्य का निर्णय व्यक्ति-विशेष की खामखयाली कल्पना पर निर्भर है तो यह स्पष्ट है कि सत्य की कोई स्वतन्त्र वस्तुगत (Objective) सत्ता ही नहीं है। सोफिस्ट-शिक्षकों के पूर्ववर्त्ती विचारकों ने केवल इन्द्रियज्ञान को संदिग्ध ठहराया था, सोफिस्ट लोगो ने ज्ञान मात्र को संदिग्ध घोषित कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने जनता के नैतिक विश्वासों को भी आपेक्षिक कथित करके प्रचलित नीति-धर्म की जड़ पर आघात किया।

सोफिस्टों के मन्तव्य मनुष्य की सम्पूर्ण विश्व का रहस्य जानने तथा धर्माधर्म का भेद मानकर चलने की प्रवृत्ति के प्रति चुनौती थे। आगे आने वाले विचारकों का, जो विश्व की व्याख्या करना चाहें और साथ ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य के भेद को सगत समझें, अब यह आवश्यक कर्त्तव्य होगा कि वे ज्ञान की सम्भावना और कर्त्तव्याकर्त्तव्य की यौक्तिकता अच्छी तरह सिद्ध करें। इस प्रकार **सोफिस्ट-सन्देहवाद की चुनौती ने सम्वित-शास्त्र और नीति-शास्त्र या व्यवहार-दर्शन को जन्म दिया।** अब से दर्शन-शास्त्र केवल भौतिक जगत् की व्याख्या करके

सन्तुष्ट नहीं रह सकता, अब उसे मनुष्य के नैतिक जीवन और उसकी ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति पर भी विचार करना पड़ेगा। अब मानव बुद्धि की व्याख्या के विषय भूत जगत की सीमा बढ़ गई, और यह सीमा-वृद्धि मनुष्य के नैतिक और ज्ञान व्यापारों की दिशा में हुई।

हम कह चुके हैं कि सोफिस्ट शिक्षकों के सन्देहवाद की पहली चोट नीति-धर्म पर पडी। इस लिए उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी वहीं से शुरू हुई। सुकरात को हम जगह-जगह नैतिक धारणाओं की व्याख्या और मण्डन करने में दत्त-चित्त पाते हैं। सुकरात ने सोफिस्टों के चैलेञ्ज को ज्यों का त्यों ग्रहण किया—वह उस चुनौती को व्यापकरूप नहीं दे सका। सोफिस्ट-सन्देहवाद ज्ञानमात्र को लागू होता है, केवल इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को नहीं; वह नैतिक पक्षपातों तक ही सीमित भी नहीं था। किन्तु सुकरात की तत्त्वमीमासा में अधिक अभिरुचि नहीं थी, इसलिये वह अपने प्रश्नों और विवादों को व्यावहारिक क्षेत्र तक ही सीमित रखता था, और ज्ञान को निरपेक्ष सत्यवाला सिद्ध करने के लिये उसने इस बात पर जोर देना काफी समझा कि वास्तविक या यथार्थज्ञान बौद्धिक ज्ञान है और उसका विषय सामान्य धारणाएं (Concepts) हैं। सुकरात की आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) से परिभाषाओं पर पहुंचने की आवश्यकता पर जोर देना उसके उपयुक्त बौद्धिक पक्षपात को प्रकट करता है।

सुकरात का बुद्धिवाद प्लेटो में संक्रान्त हो गया। सोफिस्टों के संशयवाद को प्लेटो ने उसकी पूरी व्यापकता में समझा और उसका उत्तर देने की चेष्टा की। "थीटिटस" नामक सम्वाद-ग्रन्थ में प्राटेगोरस के विरुद्ध तर्क कराते हुये वह पूछता है कि यदि सब सत्यता आपेक्षिक हैं तो सोफिस्ट-शिक्षक के सिद्धान्त की सत्यता भी आपेक्षिक होनी चाहिये। प्रोटेगोरस कहता है कि जो मुझे सत्य मालूम होता है वह मेरे लिये सत्य है, और जो किसी दूसरे के लिये सत्य मालूम होता है, वह दूसरे के लिये सत्य है। इसका स्पष्ट आशय यह निकला है कि प्रोटेगोरस को

अपने प्रतिपक्षियो के मत की सत्यता स्वीकार करनी पड़ेगी। इस प्रकार प्लेटो ने यह सिद्ध कर दिया कि सन्देहवाद एक असम्भव सिद्धान्त है।

अपने जातिप्रत्ययो द्वारा प्लेटो न केवल विश्व की व्याख्या ही करना चाहता है, बल्कि ज्ञान की सम्भावना का भी मण्डन करना चाहता है। जैसा कि एडेम्सन ने लिखा है, प्लेटो के अनुसार 'जातिप्रत्ययों की वास्तविकता के सिद्धान्त के बिना तर्क और ज्ञान असम्भव है।'* प्लेटों ने जाति-प्रत्ययों की समष्टि रूप श्रेयस् प्रत्यय को सूर्य से उपमा दी है। सूर्य की भाति श्रेयस-प्रत्यय वस्तुओं की उत्पत्ति अथवा जीवन का ही नहीं, उसके दृष्ट या ज्ञात होने का भी कारण है। सुकरात की भाति प्लेटो भी मानता है कि इन्द्रियों के बदले बुद्धि को ज्ञान का करण तथा गोचर पदार्थों के बदले जाति-प्रत्ययो को प्रमा का विषय मानकर ज्ञान की सम्भावना का मण्डन किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्लेटो के दर्शन की समस्या विश्व की व्याख्या करना तो है ही, साथ ही यह समस्या भी है कि विश्व की व्याख्या अथवा विश्व-सम्बन्धी ज्ञान किस प्रकार सम्भव है। बाद के योरुपीय दर्शन में इस दूसरी समस्या का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।

प्लेटो बुद्धिवादी है। पार्मिनिडीज़ की भाति वह भी मानता है कि यथार्थज्ञान बौद्धिक ज्ञान है। अरस्तू उतना बुद्धिवादी नहीं है, किन्तु अन्य अंशों में उसकी दार्शनिक समस्या प्लेटो से भिन्न नहीं है। अरस्तू

* 'Except on the basis of the hypothesis of ideas' Plato argues, 'reasoning and philosophy, that is knowledge, are impossible'. (The Development of Greek Philosophy, p. 108), **अर्डमान का कथन है कि** The substance of the Platonic Dialectic may thus be briefly stated by saying. that the ideas give a support to the changing phenomena, and certainty to knowledge.'
— **वही पृष्ट ११३**

ने मानवीय ज्ञान को प्रथमबार विभिन्न शाखाओं या शास्त्रों में विभक्त किया। उसके चिन्तन में सम्वित-शास्त्र, नीति-शास्त्र और तत्त्व-मीमांसा के अतिरिक्त तर्क-शास्त्र और मनोविज्ञान भी दर्शन के अंग बन गये। अब से दर्शन-शास्त्र का काम अनुभव या अनुभव-जगत के इन सब पक्षों की व्याख्या करना हो गया। प्लेटो और अरस्तू ने सदैव के लिए योरुपीय दर्शन का विषय और प्रयोजन निर्धारित कर दिये।

प्लेटो और अरस्तू दोनों ही दार्शनिक चिन्तन को जीवन की सबसे ऊँची क्रिया समझते हैं। उन्होंने नैतिक श्रेष्ठता को दो प्रकार का माना है: सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन धर्म है अवश्य, किन्तु मानव-जीवन का श्रेष्ठतम व्यापार दार्शनिक चिन्तन है।

यहा पाठकों को यूनानी दर्शन की एक विशेषता पर ध्यान देना चाहिये। दार्शनिक प्रक्रिया सम्पूर्ण विश्व-भौतिक, मानसिक और नैतिक जगत—को समझने के लिये है, उसका उद्देश्य खास तौर से आत्मा या परमात्मा का ज्ञान सम्पादन करना नहीं है। हम देखेंगे कि योरुपीय और भारतीय दर्शन में सबसे बड़ा भेद यही है। प्लेटो और अरस्तू के दर्शन में आत्मा का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है—दोनों के दृष्टि-कोण से आत्मा की अमरता भी संदिग्ध है, और उनका ईश्वरवाद भी उनके दर्शन के अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की तुलना में विशेष आकर्षित नहीं करता। प्लेटो और अरस्तू के दर्शन में विशेषतः एक सामाजिक और राजनैतिक प्राणी—सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति में लगा हुआ नागरिक—है; आत्मा या परमात्मा की खोज करना उसका प्रधान या आवश्यक कर्त्तव्य नहीं है, यद्यपि वह स्वभावतः ही तर्कनाशील या सोचने-विचारनेवाला जीव (Rational Animal) है।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के बाद यूनानी दर्शन का स्वर्ण-युग समाप्त हो गया। उनके बाद जो विचारक आये, उनमें वैज्ञानिक मनोवृत्ति—विश्व का ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा, क्षीण हुई पाई जाती है। अपने सामाजिक जीवन को कैसे चलाएँ, उसका आदर्श क्या

है, यह नैतिक या व्यावहारिक प्रश्न ही उनके मस्तिष्क के लिए महत्त्व रखता था। इसके बाद ईसाई धर्म का प्रचार और प्रसार होने पर दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र ईश्वर तथा ईसाई धर्म के सिद्धान्त बन गये।

मध्ययुग या धार्मिक काल

मध्ययुग के विचारकों को दार्शनिक कहते हुए हिचकिचाहट होती है, इसलिए नहीं कि वे बुद्धि-स्वातन्त्र्य को खोकर धार्मिक ग्रन्थों पर निर्भर करते हैं, बल्कि इसलिए कि **उनमें वास्तविक जिज्ञासा का अभाव-सा प्रतीत होता है**. वे विश्व-प्रक्रिया को समझने के लिए लालायित नहीं दीखते; इतना ही नहीं, वे आत्मा और परमात्मा का भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए इच्छुक नहीं मालूम पड़ते। उनका एकमात्र उद्देश्य चर्च की शिक्षाओं का मण्डन करना प्रतीत होता है। बौद्धिक स्वतन्त्रता और ज्ञान-पिपासा से शून्य योरुपीय इतिहास के इस काल को इसीलिए अन्धकार-युग कहा जाता है।

योरुपीय चिन्तन की सामान्य धारा में मध्ययुग अपवाद-स्वरूप है। इस युग में योरुपीय मस्तिष्क की एक विशेषता तो लक्षित होती है, अर्थात् उसकी बौद्धिकता; किन्तु उसकी वैज्ञानिक और व्यावहारिक मनोवृत्ति सर्वथा दब जाती है।

प्रारम्भ में ईसाई धर्म का कोई दर्शन नहीं था,* किन्तु बाद को उनके अनुयायियों में, यूनानी और रोमन रक्त मिलने पर, दार्शनिक बुद्धि का उदय हुआ। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में हम ईसाई-चिन्तन पर प्लेटो के सिद्धान्तों का, उसके विकृत रूप में, प्रभाव पाते हैं; और उत्तरार्द्ध में अरस्तू का। ईसाई विचारकों के चिन्तन का क्षेत्र परिमित और समस्याएँ अनोखी थीं। क्या व्यक्तियों से भिन्न जाति या सामान्य की अलग सत्ता है? यह प्रश्न मध्ययुगीय विचारकों को बड़ा महत्त्वपूर्ण लगता था। प्रसिद्ध सेन्ट एरीजना जाति-यथार्थ्यवाद का समर्थक था।

* दे० सर राधाकृष्णन्, East and west in Religion, पृ० ५८-५९ और रोजर्स वही, पृ० १७५

दूसरा प्रसिद्ध यथार्थवादी एन्सेल्म था। सेन्ट टॉम्स एक्वीनास उक्त सिद्धान्त का प्रसिद्ध आलोचक था जिसने मध्ययुग के उत्तरार्ध में ईसाई-दर्शन का स्वरूप स्थिर किया। एक्वीनास के मत में सत्य दो प्रकार का है, एक धार्मिक सत्य और दूसरा बौद्धिक सत्य। बुद्धि की दृष्टि में जो सत्य है वह धर्म की दृष्टि से मिथ्या हो सकता है। वास्तव में चर्च के अधिष्ठाता बौद्धिक अन्वेषणों से डरते थे; कहना चाहिये कि उन्हें ज्ञान और चिन्तन से भय लगता था। चर्च द्वारा वैज्ञानिक अन्वेषणों का विरोध किया जाना इस बात का साक्षी है। इसीलिए हम कहते हैं कि मध्ययुगीय चिन्तन को दर्शन नहीं कहा जा सकता। मध्य युग के एक विचारक सेन्ट एन्सेल्म ने ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए मौलिक युक्ति देने की कोशिश की जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। किन्तु आत्मा और ईश्वर का भी स्वरूप-निर्णय करने के लिए मध्ययुगीय दर्शन ने कोई वैज्ञानिक प्रयत्न नहीं किया। एतत्कालीन विचारक इन सबके लिए केवल धर्म-ग्रन्थों के वाक्यों की पुनरावृत्ति करते रहे।

आधुनिक काल

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों की पुनर्जागृति (Renaissance) ने योरुपीय मस्तिष्क को फिर स्वतन्त्रचेता यूनानी विचारकों से परिचित कराया और उसमें फिर वैज्ञानिक मनोवृत्ति अथवा उदासीन जिज्ञासावृत्ति को जीवित किया। डेकार्ट के चिन्तन का आरम्भ देखकर यह भ्रम हो सकता है कि आधुनिक योरुपीय दर्शन के जन्मदाता में विश्व-जगत् की अपेक्षा आत्मा और ईश्वर में अधिक अभिरुचि है। किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। जिस प्रकार डेकार्ट का सन्देहवाद उसकी स्थायी मनोवृत्ति का द्योतक नहीं है, उसी प्रकार उसकी आत्मा-विषयक चिन्ता भी है। बाद के दर्शन पर जहां उसके सन्देहवाद का योरुपीय बुद्धि को स्वतन्त्र करने के रूप में गहरा प्रभाव पड़ा, वहां उसने आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी चिन्तन को विशेष उत्तेजना नहीं दी। वास्तव में आत्मा के ऊपर आधुनिक योरुपीय दर्शन में बहुत कम विचार हुआ है, और ईश्वर पर

उससे कुछ अधिक। स्पिनोज़ा ने डेकार्ट की दी हुई द्रव्य की परिभाषा पर जितना ध्यान दिया उतना उसकी आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व सिद्ध करने वाली युक्तियां पर नहीं। वस्तुतः डेकार्ट के लिए आत्मा की सिद्धि ईश्वर को सिद्ध करने का द्वार या उपकरण मात्र है। ईश्वर को सिद्ध करने के बाद वह प्रकृति-जगत् की सत्यता सिद्ध करने लगता है— ईश्वर को सिद्ध करना पर्याप्त नहीं है। 'मैं सोचता या सन्देह करता हूं, इसलिए मैं हूं; मुझमें पूर्ण सत्ता–सम्बन्धी प्रत्यय है, इस लिए पूर्ण ईश्वर है', यह सिद्ध करने के बाद डेकार्ट कहता है कि क्योंकि ईश्वर में धोखा देना नहीं रह सकता, इस लिए प्रत्यक्ष दीखने वाले जगत् की सत्ता माननी चाहिये।

डेकार्ट गणित का बड़ा प्रेमी था, और गणित-शास्त्र के अनुरूप ही स्वतः सिद्ध सत्यों के बलपर अपने दर्शन का विस्तार करना चाहता था। वस्तुतः गणित में उसकी अभिरुचि दर्शन से भी अधिक थी। कुमारी एलिजाबेथ को सम्बोधित एक पत्र में वह बतलाता है कि जहां वह गणित के अध्ययन में प्रतिदिन कई घण्टे व्यय करता था वहां "मेटाफिजिक" के चिन्तन में केवल कुछ घण्टे प्रतिवर्ष लगाता था।* यह इस बात का निदर्शन है कि अब योरुपीय विचारक प्राचीन विचारकों की भांति फिर बाह्यजगत् में दिलचस्पी लेने लगे थे। पाठकों को याद रखना चाहिये कि डेकार्ट गणित की एक प्रसिद्ध शाखा, विश्लेषणात्मक रेखागणित (Analytical Geometry), का आविष्कारक है।

डेकार्ट ने भौतिक जगत् के सम्बन्ध में अन्वेषण करने का उतना ही, बल्कि उससे अधिक प्रयत्न किया है जितना कि आत्म-सम्बन्धी गवेषणा (मनोविज्ञान और नीति शास्त्र) में। यही बात स्पिनोज़ा के बारे में भी कही जा सकती है, यद्यपि उसने मानसिक दशाओं को समझाने का विशेष प्रयत्न किया है। वह डेकार्ट से भी अधिक गणित-शास्त्र की पद्धति का पुजारी है और उसने अपने प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थ की रचना

* दे० अर्डमान, हिस्टरी, भाग २, पृ० २४

यूक्लिड की ज्यामिति के ढंग पर की है। लाइबनिज़ की चिन्तन के नियमों एवं विश्व की तारतम्यात्मकता (continuity) में जितनी अभिरुचि है, आत्मा और परमात्मा में उससे अधिक नहीं है। वास्तव में डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइबनिज़ तीनों ही दार्शनिक यन्त्रवाद को जन्म देने और पूर्ण बनाने वाले हैं।

स्काटलैण्ड के प्रसिद्ध विचारक लॉक ने ज्ञान की सम्भावना, स्रोत और सीमा-सम्बन्धी प्रश्नों पर अधिक गम्भीरता से विचार किया। लॉक आत्मा और ईश्वर को मानता है, किन्तु उसके चिन्तन का मुख्य विषय मानवी विचार, उनका स्रोत और पारस्परिक सम्बन्ध है। लॉक का दूसरा प्रसिद्ध सिद्धान्त पुद्गल या जड़ पदार्थों के मुख्य और गौण गुणों का भेद है। लॉक के परवर्ती बर्कले और ह्यूम दोनों अपने सम्वित्-शास्त्र अथवा ज्ञान-सम्बन्धी विचारों के लिए प्रसिद्ध हैं। लॉक, बर्कले, ह्यूम तीनों ईश्वर को मानते थे। बर्कले के दर्शन में आत्मा का काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है, किंतु यह आश्चर्य की बात है कि बाद के विचारक उसके इन सिद्धांतों पर विशेष ध्यान नहीं देते। **डेकार्ट और बर्कले दोनों ही आत्मा-सम्बन्धी जिज्ञासा नहीं जगा पाते।** सन्देहवादी ह्यूम की दृष्टि में लॉक और बर्कले के सिद्धान्त ज्ञान-विषयक सम्मतियों के रूप में ही महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रोटेगोरस में हमने सन्देहवाद का एक रूप देखा; यूनानी संशयवाद ज्ञानमात्र को लागू होता है। किन्तु ह्यूम के संशयवाद का मुख्य विषय भौतिक विज्ञान है। यह सन्देहवाद प्रधानतया प्रकृति-जगत् की बुद्धि-गम्यता के बारे में है। ह्यूम ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान के सम्बन्ध में अपना सन्देहवाद लगाने की विशेष चेष्टा नहीं करता, (वह ईश्वर की सत्ता में विश्वास भी करता था)* उसके प्रहार का मुख्य लक्ष्य विज्ञान या भौतिक-शास्त्र है। ह्यूम की शताब्दी में प्रकृति-जगत् की व्याख्या ही चिन्तन का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग माना जाता था।

* दे० Pringle Pattison, The Idea of God, Lecture (1)

वैज्ञानिक खोजों का आधार-स्तम्भ कार्य-कारण-भाव की धारणा है। भौतिक घटनाओं की व्याख्या का अर्थ है, उनमें कार्य-कारण-भाव को स्थापित कर देना। 'प्रत्येक घटना का कारण होता है' यह भौतिक शास्त्र का अटूट नियम है। ह्यूम इसी नियम का खण्डन कर डालता है। भौतिक घटनाएं कारणता के नियम से सम्बद्ध हैं, या उससे शासित होती हैं, यह किसी तर्क के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता। कारण की खोज एक मानसिक आवश्यकता है। हम दो घटनाओं को बार-बार एक दूसरे के बाद घटित होते देखकर, उनके उसी क्रम से घटित होने की आशा करने लगते हैं; कार्य-कारण-सम्बन्ध वस्तुगत अर्थात् वस्तु-जगत् की चीज़ नहीं है।

हम यह कह रहे थे कि योरुपीय दर्शन की प्रमुख समस्या विश्व की (और भौतिक जगत् विश्व का एक महत्त्वपूर्ण अंश है) व्याख्या करना है।*हमारे इस मन्तव्य का सबसे बड़ा प्रमाण जर्मन तत्त्ववेत्ता काण्ट की "क्रिटीक आफ प्योर रीज़न" है। इस ग्रन्थ की मुख्य समस्या ह्यूम के विरुद्ध यह सिद्ध करना है कि भौतिक जगत् की वैज्ञानिक व्याख्या अर्थात् भौतिक शास्त्र सम्भव है। भौतिक शास्त्र जड़-जगत् के बारे में मुख्यतः कार्य-कारण-भाव के सिद्धान्त का अवलम्ब लेकर, सार्वभौम निश्चयात्मक प्रतिज्ञाओं (वाक्यों) का कथन करता है। ह्यूम के अनुसार विभिन्न घटनाओं और पदार्थों में कार्य-कारण जैसा कोई आवश्यक अथवा अविनाभाव-सम्बन्ध नहीं। अतएव भौतिक-विज्ञान भी सम्भव नहीं है।

* **डेकार्ट, बेकन, लॉक, लाइबनिज़ आदि के अनुसार भौतिकशास्त्र दर्शन का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह सब विचारक दर्शन को विज्ञान का चरम विकास मानते थे।** दे० Paulsen, Introduction to Metaphysics (1930 Edn.) पृ० २३; **और आगे पाल्सन कहता है:—** 'It is evident that natural science everywhere constituted the principal part of philosophy; nay, for some of it forms the real essence of philosophy.' (पृ० २६)

केवल अनुभव के बल पर (और लॉक के अनुसार सारा ज्ञान अनुभव-मूलक है) निश्चित और सार्वभौम सत्यों पर नहीं पहुंचा जा सकता।

उत्तर में काण्ट एक बहुत ही असाधारण और साहसपूर्ण सिद्धान्त का आविष्कार कर डालता है। हम बाह्य जगत् के बारे में निश्चित और सार्वभौम (Universal and Necessary) तथ्यों का अनुसंधान कर सकते हैं, इसका कारण यह है कि वस्तुओं में आवश्यक सम्बन्धों (Necessary Relations) को स्थापित करनेवाली हमारी बुद्धि है।

काण्ट के सिद्धान्त के विषय में हम आगे लिखेंगे। यहा हमें यही कहना है कि **काण्ट की दृष्टि में विश्व की व्याख्या की समस्या बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, और उसके दर्शन का मुख्य प्रयोजन इस व्याख्या की सम्भावना का मण्डन है**। यह आवश्यक नहीं है कि ईश्वर और आत्मा-सम्बन्धी ज्ञान की सम्भावना सिद्ध की जाय, किन्तु विश्व की व्याख्या परम प्रयोजनीय है। वस्तुतः काण्ट ईश्वर और आत्मा को ज्ञेय नहीं मानता, वे नैतिक और धार्मिक श्रद्धा के विषय हैं। दर्शन का मुख्य काम ज्ञान का व्याख्या और विश्लेषण करना है।

हीगल का दर्शन तो विश्व की व्याख्या करने का अन्यतम बौद्धिक प्रयत्न है। विश्व की समस्त घटनाएं द्वन्द्व-नियम से शासित होती हैं। ब्रह्माण्ड की सारी घटना-समष्टियां द्वन्द्वात्मक धारणाओं का मूर्त्तरूप अथवा द्वन्द्वन्याय का निदर्शन है। यह द्वन्द्व-नियम प्राकृतिक एवं जीव-जगत् के विकास, सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं के ऐतिहासिक क्रम तथा स्वयं धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में पूर्णतया व्याप्त है।

अति-आधुनिक काल में सम्भवतः ब्रेडले ही एकमात्र दार्शनिक है जिसने दर्शन का उद्देश्य तत्त्व-पदार्थ (Reality) का स्वरूप-ज्ञान बतलाया है। किन्तु ब्रेडले का तत्त्व-पदार्थ अनुभव-जगत् की विभिन्न व्यक्तियों (Entities) का ही समष्टि है। वस्तुतः ब्रेडले मानता है कि एक पूर्ण दर्शन-पद्धति में विश्व की विभिन्न सत्ताओं या विवर्त्तों (Appearances)

का पूरा विवरण—तात्त्विकता की दृष्टि से तारतम्यात्मक (Graded) क्रम-निर्देश—होना चाहिये। क्रोचे ने भी चित्-शक्ति (Spirit) की विभिन्न क्रियाओं के विवरण-रूप में विश्व-प्रक्रिया की व्याख्या करने की चेष्टा की है। बर्गसां का सृजनात्मक विकास (Creative Evolution) स्पष्ट ही विश्व-जगत की व्याख्या का प्रयत्न है। विश्व की विकासात्मक व्याख्या के अन्य प्रयत्न एलेग्ज़ेण्डर और लॉयड मार्गन के नव्योत्क्रान्तिवाद (Emergent Evolution) और जनरल स्मट्स के समष्टिवाद (Holism) में प्रकट हुए हैं। ह्वाइटहेड का दर्शन भी कुछ इसी प्रकार का है।

इस प्रकार योरुपीय दर्शन के अत्यन्त प्राचीनकाल से अब तक के विकास पर दृष्टिपात करके हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि योरुपीय दर्शन की मूल प्रेरणा निरुपयोगी या निष्प्रयोजन जिज्ञासा-वृत्ति (Disinterested Curiosity) है और उसका एकमात्र काम विश्व-प्रक्रिया को समझना या उसका ज्ञान प्राप्त करना है। क्योंकि योरुपीय दर्शन का उद्दिष्ट ज्ञान है, इसलिए उसकी सम्भावना का मण्डन तथा उसकी सीमा का निर्धारण भी समय-समय पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन जाता है। योरुपीय दर्शन के इतिहास में दो बार ज्ञान की सम्भावना के सम्बन्ध में गहरी आशंका प्रकट की गई है, एक बार प्रोटेगोरस के सापेक्षवाद में, और दूसरी बार ह्यूम के संशयवाद में; और दोनों ही बार उसका निराकरण करने के लिए योरुप ने प्लेटो और काण्ट जैसे धुरन्धर दार्शनिकों को उत्पन्न किया। व्यावहारिक क्षेत्र में योरुपीय दर्शन मानवता के नैतिक जीवन को समझाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। जिस विश्व को योरुपीय मस्तिष्क बुद्धि द्वारा पकड़ने को सचेष्ट रहा है, उसमें (यह बात हमारे ध्यान देने योग्य है) आत्मा का और परमात्मा का भी कोई विशिष्ट स्थान नहीं है। थेलीज से लेकर डिमोक्राइटस तक के दर्शन में ईश्वर की धारणा महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्लेटो और अरस्तू में भी ईश्वरवाद महत्त्वपूर्ण नहीं है; यह दोनों ही दार्शनिक अपने "फार्म" और "मैटर"

के सम्बन्ध-विषयक सिद्धान्तों के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। सेन्ट एन्सेल्म और डेकार्ट की ईश्वर-सम्बन्धी युक्तियां अवश्य ही प्रसिद्ध हैं, किन्तु डेकार्ट के दर्शन में भी ईश्वर की धारणा प्रमुख नहीं है; उसकी द्रव्य की परिभाषा और द्वैतवाद ने ही परवर्ती दर्शन को अधिक प्रभावित किया। काण्ट की दर्शन-पद्धति में आत्मा और ईश्वर दार्शनिक चिन्तन के विषय ही नहीं रह जाते, और हीगल तथा ब्रेडले के अध्यात्मवाद में सृष्टिकर्त्ता और उपासना के विषय की कल्पना नितान्त गौण है। ब्रेडले तो वेदान्त की भांति ही ईश्वर को अतात्त्विक मानता है। वस्तुतः ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद दो भिन्न सिद्धान्त हैं।

ईश्वर से भी अधिक योरुपीय दर्शन में आत्म-तत्त्व की उपेक्षा हुई है। यह बात प्राचीन और आधुनिक दोनों कालों के विषय में कही जा सकती है; और मध्य-युग भी इसका अपवाद नहीं है। हम देखेंगे कि योरुपीय दर्शन की यह प्रवृत्तियां उसे भारतीय दर्शन से काफ़ी भिन्न बना देती हैं।

भारतीय दर्शन

योरुप के दर्शन की भांति भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक क्रम से विवरण देना सम्भव नहीं है। बात यह है कि यहां के दर्शनों का विकास केवल व्यक्तियों द्वारा नहीं बल्कि सम्प्रदायों के रूप में व्यक्ति-समूहों द्वारा हुआ। हमारे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शन आदि का विकास अत्यन्त प्राचीन काल से शुरू होकर हज़ारों वर्ष तक समानान्तर भाव से होता रहा, और आज भी बिल्कुल बन्द नहीं हो गया है। महत्त्वपूर्ण दर्शनों के प्रवर्त्तकों का आपेक्षिक काल-निर्णय प्रायः असम्भव-सा है, और उनके प्रमुख टीकाकारों को भी आगे-पीछे के तारतम्य में, किसी यौक्तिक विकास के (Logical) क्रम से नहीं रखा जा सकता। कुछ विद्वानों की सम्मति में विभिन्न दर्शन चिन्तन के विभिन्न सोपान-स्वरूप (Stages) हैं जो क्रमशः अधिकाधिक उन्नत मस्तिष्क के अधिकारियों की बुद्धि को सन्तुष्ट करने वाले हैं,

किन्तु यह मत समीचीन नहीं मालूम पड़ता। विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्य जिस उत्साह, आत्म-विश्वास एवं गम्भीरता से अपने-अपने मत का प्रतिपादन और विपक्षियों के सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं, उससे यही प्रतीत होता है कि उनके मतभेद वास्तविक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शनों का विवेचन करते समय एक का दूसरे से विकास दिखा सकना नितान्त कठिन है।

ऋग्वेद-कालीन आर्य पारिभाषिक अर्थ में दार्शनिक नहीं थे। उनमें जिज्ञासा की अपेक्षा विस्मय का और चिन्तन की अपेक्षा कल्पना का ही बाहुल्य दिखाई देता है। वस्तुतः संहिता-काल में दार्शनिक जिज्ञासा और चिन्तन बीजरूप में ही पाये जा सकते हैं। किन्तु इस प्रकार के बीजों की कमी नहीं है, वे जहां-तहां बिखरे हुए मिल सकते हैं। एक जगह ऋग्वेद का कवि पूछता है—'कि स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस एतो द्यावा-पृथिवी निष्टतक्षुः', अर्थात् वह कौन-सा वन था, कौन-सा वृक्ष था जिससे (स्रष्टा ने) पृथ्वी और आकाश का निर्माण किया? अन्यत्र दृश्य सृष्टि को यज्ञ से उपमा देकर वैदिक कवि प्रश्न करता है कि इस यज्ञ के लिए आवश्यक घृत, समिधा इत्यादि सामग्री कहां से आई। पहला प्रश्न जगत् के उपादान-कारण के सम्बन्ध में होते हुए भी निमित्त-कारण की कल्पना से मुक्त नहीं है। दूसरे प्रश्न में उपादान-विषयक जिज्ञासा अधिक प्रबल है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त और नासदीय-सूक्त में उपादान और निमित्त-कारणों की अभिन्नता की कल्पना भी विशद हो गई है। नासदीय-सूक्त में हम थेलीज़ की मूल-कारण-विषयक जिज्ञासा को कुछ परिवर्तित किन्तु स्पष्टरूप में पाते हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में ईश्वर-वाद भी काफी विकसित रूप पा गया है। वैदिक कवि के अनुसार 'एक ही को विद्वान् लोग अनेक नामों से पुकारते हैं; कोई उसे अग्नि कहता है, कोई यम और कोई वायु' (ऋग्वेद १।१४४।४६)।

भारतीय दर्शन का वास्तविक आरम्भ उपनिषद्काल से मानना चाहिये। वैदिक काल के बीज उपनिषदों में अंकुरित हो गये हैं। यह

मानना ही पड़ेगा कि प्राचीनतम उपनिषद् एक हजार वर्ष ई० पू० से बाद के नहीं हो सकते। इतने प्राचीन काल में उपनिषदों जैसे विस्तृत और संकेतपूर्ण दार्शनिक साहित्य का आविर्भाव सचमुच ही विस्मय-जनक घटना है। उपनिषदों में इसके पर्याप्त संकेत हैं कि उस समय भारतवर्ष में काफी दार्शनिक जिज्ञासा और हल-चल थी। जगह-जगह हम पढ़ते हैं कि अमुक व्यक्ति तत्त्व-ज्ञान के लिए अमुक विचारक के पास गया और अमुक परिषद् में अमुक विद्वानों में शास्त्रार्थ हुआ। भारतीय दर्शन का आरम्भ थेलीज़ जैसे किसी एक विचारक में एक समस्या को लेकर नहीं हुआ। दर्शन का आरम्भ यहां एक वैयक्तिक नहीं, जातीय घटना थी। इसीलिए उसका विवरण देना सरल नहीं है।

जैसा कि हमने कहा, विस्तृत उपनिषद्–साहित्य में अनेक प्रश्न अनेक रूपों में उठाये गये हैं; फिरभी विभिन्न उपनिषदों में काफी एक-स्वरता है। दो–एक अपवादों को छोड़कर उपनिषद्-साहित्य में प्रायः एक "स्पिरिट" पाई जाती है। और इस साहित्य में उत्तरकालीन भारतीय दर्शनों के लगभग दो-तिहाई सिद्धान्त बीज-रूप में वर्त्तमान हैं। श्रेय और प्रेय, ऐहिक सुख और मोक्ष का भेद; इन्द्रिय ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान की अपर्याप्तता; कर्म की अपेक्षा ज्ञान की महत्ता; केवल ज्ञान द्वारा अमृतत्व की प्राप्यता; ब्रह्म की विश्व-कारणता एवं आत्मा की परम ज्ञेयता आदि भारतीय दर्शन के दर्जनों महत्त्वपूर्ण मन्तव्य उपनिषदों में विशद और स्पष्टरूप में उल्लिखित हैं। बाद के दार्शनिकों का काम केवल इन सिद्धान्तों का यौक्तिक मण्डन करना रह जाता है। उपनिषद्-दर्शन की यह बहुमुखता उसके आविष्कारकों की क्रान्तदर्शिता और उनकी असामान्य प्रतिभा की द्योतक है।

उपनिषदों में उठाये गये प्रश्न यद्यपि विविध हैं, तथापि उनका वर्गीकरण असम्भव नहीं है। प्रश्नोपनिषद् में छः जिज्ञासुओं ने जाकर महर्षि पिप्पलाद से छः प्रश्न किये, जो इस प्रकार हैं: (१) यह प्रजाएँ कहां से उत्पन्न होती हैं? (२) कितने देवता प्रजा का धारण और

प्रकाशन करते हैं? उनमें सर्वश्रेष्ठ कौन है? (३) यह प्राण कहां से उत्पन्न होता है, इस शरीर में कैसे आता है और कैसे निकल जाता है? (४) इस पुरुष में क्या सोता है और क्या जागता रहता है; कौन स्वप्न देखता है; किसे सुख होता है? (५) मरते समय ओंकार के ध्यान से कौन लोक मिलता है? (६) पुरुष क्या है? इन प्रश्नों में पहला विश्व के कारण के सम्बन्ध में है; दूसरा और पांचवां उपास्य देव और उपासना के फल के विषय में है; तथा शेष तीन जीवन और आत्मा-विषयक हैं। उपनिषदों की जिज्ञासा का एक प्रमुख विषय विश्व का मूल तत्त्व है, वह तत्त्व जिसके जानने से सब कुछ जाना जाता है। छान्दोग्य में आरुणि अपने विद्याभिमानी पुत्र श्वेतकेतु से पूछते हैं—'क्या तुम उसे (उस तत्त्व को) जानते हो, जिससे बिना सुना हुआ सुना हो जाता है, बिना समझा हुआ समझा हुआ हो जाता है और बिना जाना हुआ ज्ञात हो जाता है?'* मुण्डक में शौनक महाशाल अंगिरस के पास जाकर प्रश्न करता है—'भगवन्! किसके जान लेने से यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है?'[1] विश्व के चरम तत्त्व को उपनिषदों में प्रायः ब्रह्म या सत् नाम दिया है और ब्रह्म या सत् की जिज्ञासा उपनिषदों की प्रमुख समस्या है।[2] उनकी जिज्ञासा का दूसरा मुख्य विषय आत्मा है। छान्दोग्य में नारद सनत्कुमार से जाकर कहते हैं कि 'भगवन्! मुझे शिक्षा दो।'

*छा० ६।१।२

[1] मुं० १।१।३

[2] तैत्तिरीय में वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता से 'ब्रह्म' सिखाने की प्रार्थना करता है (दे० भृगुवल्ली, १); केनोपनिषद् का आरम्भ मन, वाणी के प्रेरक ब्रह्म की जिज्ञासा से होता है, और वही उसका प्रतिपाद्य है; बृहदारण्यक में बालाकि के यह कहने पर कि 'मैं तुम्हें ब्रह्म सिखाऊँगा' अजातशत्रु उत्साहित होकर बोल उठता है—सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मः, तुम्हारे यह कहने मात्र के लिए तुम्हें मैं एक हजार गौएँ दूंगा। विश्व-साहित्य में ज्ञान-पिपासा का इतना तीव्र उदाहरण मिलना कठिन है।

सनत्कुमार के पूछने पर कि उन्होंने कहा तक पढ़ा है, नारद कहते हैं कि 'मैंने ऋग्वेद पढ़ा है, यजुर्वेद, सामवेद, इतिहास, पुराण, देव-विद्या, भूत-विद्या आदि पढ़े हैं, किन्तु मैं अभी मन्त्रवित् ही हूं, आत्मवित् नहीं; आप कृपा करके मुझे शोक के पार पहुंचाएँ।'* यहा नारद की आत्म-विषयक जिज्ञासा नितान्त तीव्र है। उपनिषद्-दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यही है कि वह ब्रह्म और आत्मा की एकता घोषित करके आत्मा को दर्शन-शास्त्र अथवा परा विद्या का एकमात्र विषय कथन कर डालता है।

उपनिषद् जगह-जगह ब्रह्म या आत्मा की ज्ञातव्यता पर जोर देते हैं; ब्रह्म से भी अधिक वे आत्मा को ज्ञातव्य और प्राप्य घोषित करते हैं। बृहदारण्यक में हम पढ़ते हैं, 'आत्मा ही द्रष्टव्य है, श्रोतव्य और मन्तव्य है; आत्मा ही निदिध्यासन का विषय है; हे मैत्रेयी! आत्मा के ही दर्शन, श्रवण और ज्ञान से यह सब विदित या ज्ञात होता है।'† जिस प्रकार दुन्दुभि से उत्पन्न शब्दों को पकड़ने का एकमात्र उपाय दुन्दुभि को पकड़ लेना है, उसी प्रकार विश्व को जान लेने का एकमात्र ढंग आत्म-तत्त्व को जान लेना है। केनोपनिषद् कहता है—'इस जीवन में यदि आत्मा को जान लिया तो ठीक, यदि न जाना तो सर्वनाश है।' कठोप-निषद् में तो नचिकेता का मुख्य जिज्ञास्य ही आत्मा है। छान्दोग्य के इन्द्र और विरोचन तथा प्रजापति के सम्वाद का विषय भी आत्मा है।

इस प्रकार उपनिषदों के विचारकों की चरमतत्त्व-सम्बन्धी जिज्ञासा का पर्यवसान आत्म-जिज्ञासा में हुआ है। उपनिषत्कार आत्मा को जानना चाहते हैं, इसका कारण है। उपनिषद्-दर्शन निष्प्रयोजन या निरुपयोगी जिज्ञासा-वृत्ति की अभिव्यक्ति नहीं है। मैत्रेयी अपने पति याज्ञवल्क्य से कहती है— येनाहं नामृता स्याम् तेनाहं किं कुर्याम्; अर्थात् जिससे मैं अमर नहीं होऊंगी उसका मैं क्या करूं? मैत्रेयी का यह उद्‌गार उपनिष-

* ७।१।२—३ † २।४।५

दीय दार्शनिकों की चिरन्तन भावना को प्रकट करता है। भारत के यह आदिम दार्शनिक अपने को ससीम भोगैश्वर्यों से सन्तुष्ट नहीं कर सके; वे असीम की खोज में थे। 'जो अनन्त है, भूमा है, उसी में सुख है; अल्प में सुख नहीं है। भूमा का ही नाम सुख है; इसलिए भूमा को ही जानने की इच्छा करनी चाहिये।'* उपनिषदों की सम्मति में आत्मा ही भूमा है, आत्मा या ब्रह्म ही विश्व का असीम और शाश्वत मूलतत्त्व है।

पाठकों को यह नहीं समझना चाहिये कि क्योंकि उपनिषद्कार चिन्तन का एक प्रयोजन लेकर अग्रसर होते हैं, इसलिए उनकी जिज्ञासा-वृत्ति निर्बल है। वस्तुतः उपनिषद्-दर्शन का मूल विश्वतत्त्व की जिज्ञासा ही है। यम के हजार प्रलोभन देने पर भी नचिकेता आत्म-विषयक जिज्ञासा से विरत नहीं होता। अन्यत्र भी ब्रह्म या आत्मा-विषयक प्रश्नों में जिज्ञासा का भाव ही प्रबल दिखाई देता है। किन्तु उपनिषदों के विचारक अपनी चिन्तन-प्रवृत्ति का प्रयोजन कल्पित करके उसे एक यौक्तिक या बुद्धिसंगत व्यापार दर्शित कर देते हैं। वास्तव में एक बुद्धिजीवी (Rational) प्राणी निष्प्रयोजन व्यापारों में प्रवृत्त नहीं हो सकता। जैसा कि मीमांसकों का 'मॉटो' है,* बिना उद्देश्य के मूर्ख भी कोई काम नहीं करता। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगॉल के अनुसार जीवित प्राणियों के व्यापार भौतिक व्यापारों से मुख्यतः इसी में भिन्न होते हैं कि वे किसी लक्ष्य तक पहुंचने के लिए किये जाते हैं।* प्राण-धारियों की प्रमुख विशेषता उनकी लक्ष्योन्मुखता अथवा लक्ष्य खोजने का स्वभाव है। वास्तव में कोई मनुष्य जिस अनुपात में बुद्धिमान होता है उसी अनुपात में अपने व्यापारों का हेतु या प्रयोजन बताने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से 'दर्शन दर्शन के लिए' का सिद्धान्त श्लाघ्य न होकर एक प्रकार की बौद्धिक असमर्थता का द्योतक बन जाता है। योरुप

* छा० ७।२३।१ * प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।

* दे० An outline of Psychology, Ch. I.

के दार्शनिक मानो जिज्ञासा (Curiosity) की अन्ध प्रवृत्ति (Instinct) को सन्तुष्ट करने के लिए चिन्तन करते हैं, किसी उद्देश्य से नहीं।

उपनिषदकार मानते हैं कि ज्ञान के अतिरिक्त भूमा या अमृतत्व की प्राप्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। 'ब्रह्म को जानने वाला सब प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है।'* 'ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का कोई दूसरा पथ नहीं है' (श्वेता० ३।८)। 'ब्रह्म या आत्मा का साक्षात्कार होने पर मनुष्य के हृदय की गांठ खुल जाती है। उसके सारे सन्देह नष्ट हो जाते हैं और उसके सब कर्मों का क्षय हो जाता है।'§ श्वेताश्वेतर उपनिषद् बड़े ज़ोरदार शब्दों में घोषित करता है कि 'जब लोग आकाश को चमड़े की भाति लपेट सकेंगे, तब सम्भवतः ब्रह्म को बिना जाने दुःखों का अन्त हो सकेगा।'‡ इस प्रकार की उक्तियों के होते हुये यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय दर्शन में योरुपीय दर्शन की अपेक्षा ज्ञान का कम महत्त्व है। जहां योरुपीय दर्शन ज्ञान को स्वयं अपना साध्य मानता है, वहा भारतीय दर्शन में ज्ञान अर्थात् दर्शन जीवन के चरम लक्ष्य का एकमात्र साधन समझा गया है। हीगल के अनुसार दार्शनिक चिन्तन मानव जीवन का सर्वोच्च व्यापार है; प्लेटो और अरस्तू ने भी दर्शन को ऐसा ही महत्त्व दिया था। भारतीय दार्शनिक साहित्य में उक्त मन्तव्य और भी अधिक ज़ोरदार शब्दों में प्रकट किया गया है। गीता कहती है—ज्ञान से अधिक पवित्र (अर्थात् पवित्र करने वाला) कुछ भी नहीं है।* वस्तुतः 'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः' (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो

* आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन। (तै० उप० २।४)

§ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यंते सर्वे संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (मु० २।२।८)

‡ यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

* न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते

सकती) यह सिद्धान्त भारत के प्रायः सभी दर्शनों को मान्य है। शङ्कराचार्य कहते हैं—अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषा मोक्षवादिनामभ्युपगमः;* अर्थात् सम्यग्ज्ञान से मुक्ति होती है, इस सिद्धान्त को सभी वादी मानते हैं। दार्शनिक चिन्तन और ज्ञान का यह महत्त्व उपनिषद्-काल में ही प्रतिष्ठित हो गया था।

उपनिषदों में हम दार्शनिक समस्या के दो मुख्य रूप पाते हैं, एक का सम्बन्ध विश्व-तत्त्व की खोज से और दूसरे का आत्म-तत्त्व के ज्ञान से समझना चाहिये। पहली समस्या का एक रूप तो ब्रह्म-जिज्ञासा है जो उपनिषदों में पाया जाता है, और दूसरा विश्व की अन्य ढंगों से व्याख्या करना। बाद के भारतीय दर्शनों का प्रधान काम या तो उपनिषदों के आत्मान्वेषण को आगे बढ़ाना हो जाता है, या स्वतन्त्ररीति से, उपनिषदों के ब्रह्मवाद या ब्रह्मात्मैक्यवाद को समग्रता में स्वीकार न करके, विश्व की व्याख्या करना। भगवद्गीता तथा वेदान्तसूत्र और उसके अनेक टीकाकारों में दार्शनिक समस्या को पहले रूप में ग्रहण किया गया है, तथा जैन-दर्शन, सांख्य और न्याय-वैशेषिक में हम उसका दूसरा रूप पाते हैं। मीमांसा के दो सम्प्रदायों पर न्याय-वैशेषिक का काफी प्रभाव दिखाई देता है। यह दूसरी कोटि के दर्शन अपेक्षाकृत योरुपीय दर्शन के अधिक समीप हैं। मोक्ष की धारणा उनमें भी है। किन्तु उनकी अभिरुचि केवल ब्रह्म या आत्मा में ही नहीं है। न्याय-दर्शन का मुख्य विषय प्रमाण है; वैशेषिक की आत्मा अनेक द्रव्यों में एक है और सांख्य में प्रकृति और पुरुष दोनों का ज्ञान समान महत्त्व रखता है। यही बात जैन-दर्शन और मीमांसा के दो सम्प्रदायों के बारे में कही जा सकती है। किन्तु फिर भी, उपनिषदों के विस्तृत और व्यापक प्रभाव के कारण, भारतीय दर्शन आत्म-ज्ञान पर अधिक ज़ोर देते रहे हैं। अपने न्याय-भाष्य में वात्स्यायन

* ब्रह्मसूत्र, २।१।११। न्याय में सोलह, वैशेषिक में छह और सांख्य में तीन पदार्थों (व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष) का ज्ञान निःश्रेयस् या दुःख-निवृत्ति के लिए आवश्यक बताया गया है।

लिखते हैं—'क्योंकि ज्ञेय वस्तुओं की संख्या अनन्त है, इसलिए उन सब का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतएव उस पदार्थ का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये जिसका अज्ञान पुनर्जन्म का सक्रिय हेतु बन जाता है।' वात्स्यायन की सम्मति में सबसे महत्त्वपूर्ण ज्ञान 'आत्मा को अमर तथा शरीर, इन्द्रियों आदि नश्वर पदार्थों से भिन्न जानना' है।*

वस्तुतः 'दर्शन-शास्त्र की प्रमुख समस्या आत्म-ज्ञान है' यह सिद्धान्त उपनिषद् काल के बाद कुछ दिनों तक विशेष प्रसिद्ध नहीं रहा। सूत्रकाल (ईसा की प्रारम्भिक तीन चार शताब्दियां) में ब्रह्मसूत्र को छोड़कर किसी दार्शनिक सूत्र ग्रन्थ में, केवल आत्मा के ज्ञान पर विशेष जोर नहीं दिया गया। वृत्तिकाल में भी उपनिषदों की आत्मजिज्ञासा का विशेष महत्त्व शङ्कराचार्य के भाष्यों में ही दीख पड़ता है। वस्तुतः वेदान्त ने वाह्य जगत् के सम्बन्ध में सांख्य के सिद्धान्तों को स्वीकार करके अपना ध्यान मुख्यतः आत्म-तत्त्व की ओर लगा दिया। श्वेताश्वेतर में प्रकृति को महेश्वर, शिव या भगवान की माया मान लिया है; गीता में प्रकृति भगवान की योनि या विभूति बन जाती है। इतने परिवर्त्तन के साथ सांख्य का प्रकृतिवाद स्वीकार करने में उत्तरकालीन वेदान्त को कोई आपत्ति नहीं रहती, यद्यपि शङ्कर ने सांख्यों का खण्डन किया है। ऐतरेय उपनिषद् के भाष्य में प्रतिपक्षी के यह आक्षेप करने पर कि उपनिषदों के विभिन्न सृष्टि-विषयक विवरणों में विरोध है, शङ्कराचार्य उत्तर देते हैं कि इसमें कोई हर्ज नहीं है। उपनिषदों का उद्देश्य सृष्टि-प्रक्रिया का विवरण देना है—उसके ज्ञान से कोई लाभ भी नहीं है। अमृतत्व या मोक्ष आत्मैक्य-ज्ञान का फल है, यही ज्ञान उपनिषदों का प्रतिपाद्य है:—

न हि सृष्ट्याख्यायिकादि परिज्ञानात्किञ्चित्फलमिष्यते। ऐकात्म्यस्वरूपपरिज्ञानात्तु अमृतत्वं फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम्, (अ० २, उपोद्घात)।

शंकर के मत में उपनिषदों के सृष्टि-विषयक वर्णन अर्थवाद मात्र

*दे० न्यायभाष्य (गंगानाथ झा कृत अंग्रेज़ी अनुवाद) पृ० ४६७-६८

हैं। उपनिषदों का यह मन्तव्य कि दार्शनिक जिज्ञासा मोक्ष के लिए है और उसका विषय आत्मा है, शङ्कर-वेदान्त में पूर्ण रीति से विकसित हो गया है। हम आगे देखेंगे कि जगत् के मिथ्या होने के पक्ष में शङ्कर की सबसे बड़ी युक्ति यह है कि विश्व को वास्तविक मान लेने पर मुक्ति सम्भव न हो सकेगी। यहां एक बात कह देना आवश्यक है। दर्शन का ज्ञेय आत्मा या ब्रह्म को मानते हुये भी शङ्कराचार्य विश्व-प्रक्रिया के प्रति सर्वथा उदासीन न रह सके। क्योंकि उन्हें अपने मत का प्रतिपादन अन्य भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि में करना पड़ा, इस लिए उन्हें अपने सृष्टि-विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करना अनिवार्य हो गया। वास्तव में सृष्टि-कर्त्तृत्व वेदान्त के ब्रह्म का एक प्रमुख गुण है। यह ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भ से ही स्पष्ट हो जाता है। सूत्रकार ने ब्रह्म का लक्षण 'वह जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति, और भंग या विनाश होता है,' किया है।

किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वेदान्त के उदय के बाद भारतीय दार्शनिकों की सृष्टि-विषयक जिज्ञासा अथवा विश्व की व्याख्या का उत्साह कम हो गया। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से हम भारतीय दार्शनिकों को भक्ति और उपासना के विषय ईश्वर में ज्यादा दिलचस्पी लेते हुये पाते हैं। यह ईश्वर वेदान्त का निर्गुण ब्रह्म नहीं है। उदयनाचार्य की कुसुमाजलि की रचना इस रुचि-वैचित्र्य, का पहला निदर्शन है। उसके पश्चात् रामानुज (ग्यारहवीं शताब्दी), निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि के दर्शनों में ईश्वर का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण हो जाता है एवं भक्त और भगवान के सम्बन्ध को स्पष्ट करना ही दर्शन-शास्त्र का मुख्य काम बन जाता है। इन शताब्दियों में भारतीय मस्तिष्क ने वैशेषिक और सांख्य जैसे सृष्टि-विषयक किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का आविष्कार नहीं किया। इस परिवर्त्तन का प्रमुख और यथेष्ट कारण इन दिनों हमारे देश का यवन आक्रमणकारियों से आक्रान्त होना था। मुसलमान शासकों द्वारा उत्पीड़ित और त्रस्त जनता को जिस आधार की आवश्यकता थी वह भक्तिमार्गियों के करुणामय सगुण ईश्वर में ही मिल सकता था।

क्या भारत के इस उत्तरकालीन दर्शन की मध्य-युगीय ईसाई-दर्शन से तुलना की जा सकती है? यह ठीक है कि योरुप के मध्य-युग की भांति एतत्कालीन भारतीय दर्शन का केन्द्र भी ईश्वर था। किन्तु फिर भी हम निःसन्दिग्ध भाव से कह सकते हैं कि ऊपर के प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिये। बात यह है कि विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में दार्शनिक ज्ञान के विषय के बारे में कुछ भेद रहते हुये भी भारतीय दर्शन की मूल प्रेरणा जिज्ञासा-वृत्ति ही रही है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण हमारे दर्शन की अनवरत तार्किक प्रगति—उसकी प्रमाण-शास्त्र में अविच्छिन्न अभिरुचि—है। गौतम, अक्षपाद, उद्योतकर, दिङ्‌नाग, वाचस्पति आदि के बाद बारहवीं शताब्दी में गंगेश की तत्त्व-चिन्तामणि का प्रकट होना और उस पर लिखी गईं दीधिति, गादाधरी आदि टीकाओं का विस्तार इस बात की प्रबल साक्षी देते हैं कि भारतीय दार्शनिकों की ज्ञान और ज्ञान के साधनों में अखण्ड अभिरुचि रही है। ईसाई दर्शन से हमारे बाद के दर्शन के भिन्न होने का दूसरा कारण उसकी सुपुष्ट दार्शनिक पृष्ठभूमि थी जिसने राजनैतिक आपद् काल में भी उसके "स्टैण्डर्ड" को अधिक नहीं गिरने दिया। मध्य-युग के योरुपीय दर्शन के अपेक्षाकृत सारशून्य होने का एक प्रधान कारण दार्शनिक पृष्ठिभूमि का अभाव, यूनानी-दर्शन की स्मृति और संस्पर्श से वंचित होना, भी था।

हमने ऊपर कहा है कि भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति सप्रयोजन है, वह मोक्ष के लिए है। हमने इस पर भी जोर दिया कि भारतीय विचारकों के अनुसार मोक्ष का एकमात्र साधन ज्ञान है। इस दृष्टि से ज्ञान यद्यपि साधन बन जाता है फिर भी उसकी महत्ता में कमी नहीं आती। इससे आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन का साध्य व लक्ष्य भी स्वयं ज्ञान ही है। वेदान्त में मोक्ष का अर्थ है आत्म-प्राप्ति, जो आत्म-साक्षात्कार ही का दूसरा नाम है। आत्मा को पाने का अर्थ उसके वास्तविक सच्चिदानन्द-स्वरूप से परिचित होना ही है। इसी

लिए श्री शंकराचार्य ने कहा है कि श्रवण, मनन और निदिध्यासन सब का पर्यवसान या प्रयोजन अवगति (आत्म-साक्षात्कार) में ही है (मननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवद् अवगत्यर्थत्वात्)। *इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों भारतीय विचारक दार्शनिक ज्ञान के लिए उपयुक्त गुरु को खोजते हुए अपना सर्वस्व छोड़ देने को तैयार रहते थे। मैत्रेयी और नचिकेता जैसे जिज्ञासुओं के उदाहरण संसार के किसी अन्य साहित्य में मिलने दुर्लभ हैं। भारतवर्ष में दार्शनिक चिन्तन को हम सब प्रकार के धार्मिक कृत्यां से अधिक महत्त्वपूर्ण और पवित्र माना जाता हुआ पाते हैं। डायसन ने लिखा है कि 'भूमण्डल पर किसी देश के लोगों ने "रिलीजन" को उतनी गम्भीरता से नहीं पकड़ा, किसी ने मोक्ष प्राप्ति के लिए इतना परिश्रम नहीं किया, जितना कि भारतीयां ने।'† डायसन के इस अवतरण में यदि हम "रिलीजन" शब्द को "दर्शन" से बदल दें तो भी तथ्य की कोई हानि न होगी। वास्तव में भारतीय दर्शन कभी भी धर्म या "रिलीजन" का गौण सहकारी (मीमांसा के अर्थ में शेष उपकारी) नहीं रहा। इसके विपरीत यहां के दर्शन ने "रिलीजन" को अपने में सन्निविष्ट करके उसके लक्ष्य और पद्धति दोनों का निर्देश किया। इस विषय में हमारे और योरुप के दर्शन में किस प्रकार गहरा भेद रहा है, इसके सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे। यहां सिर्फ़ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि अपेक्षाकृत योरुपीय दर्शन साधनात्मक धर्म (Religion) से तटस्थ रहा और भारतीय दर्शन सामाजिक नीति-धर्म से; इस तटस्थता का परिणाम पूर्व और पश्चिम दोनों के लिए बुरा हुआ है।

---

* ब्र० शां० भा० १-१-४ (४०१८)

† सिस्टम ऑफ़ वेदांत, पृ० ४१

: २ :

सम्वित्-शास्त्र या ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान-विषयक अभिरुचि उसकी सम्भावना, साधनों एवं सीमा के सम्बन्ध में चिन्तन करने को विवश करती है। क्या विश्वप्रक्रिया या वस्तु-तत्त्व का ज्ञान सम्भव है? यदि हां, तो उसके साधन क्या हैं? मानवीय ज्ञान की सीमा क्या है? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करना सम्वित्-शास्त्र (Epistemology) का काम है। ऊपर के तथा अन्य सम्बद्ध प्रश्नों पर पूर्वी और पश्चिमी दोनों दर्शनों में पर्याप्त विचार हुआ है। योरुप के मध्य-युग में, जैसा कि हमने कहा, वास्तविक जिज्ञासा (ज्ञानेच्छा) का अभाव था, इस लिये वहां ज्ञान-मीमांसा का भी प्रायः अभाव रहा।

भारतीय सम्वित्-शास्त्र और योरुपीय सम्वित्-शास्त्र में जहां कुछ समानताएं हैं, वहां गम्भीर भेद भी हैं। भारतवर्ष में ज्ञान के साधनों (प्रमाणों) पर जितना विचार हुआ, उतना ज्ञान की सम्भावना और सीमा पर नहीं। वस्तुतः भारतीय दर्शन ने कोई बहुत महत्त्वपूर्ण संशय-वादी या सन्देहवादी उत्पन्न नहीं किया; प्रोटेगोरस और ह्यूम का यहाँ अभाव ही रहा। सुनते हैं कि उपनिषद्-दर्शन के बाद की शताब्दियों में संजय बेलट्ठ पुत्त नाम का एक अनिश्चयवादी विचारक हुआ था, पर यह स्पष्ट है कि उसने भारतीय दर्शन की प्रगति पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं डाला—किसी प्लेटो या काण्ट को उत्पन्न नहीं किया। इस काल की बौद्धिक हलचल के फलस्वरूप हमें हिन्दू शास्त्रों का समन्वय करने वाला एक महत्त्वपूर्ण नैतिक ग्रंथ अवश्य ही उपलब्ध हुआ, अर्थात् श्रीमद्-

भगवद् गीता; किन्तु भारतीय सम्वित्-शास्त्र में संशय या अनिश्चय-वाद का खण्डन करने की विशेष चेष्टा नहीं की गई है। नागार्जुन और श्रीहर्ष को भी पश्चिमी अर्थ में सन्देहवादी नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में सन्देहवाद युक्तियुक्त नहीं है। जब सन्देहवादी यह कहता है कि किसी वस्तु का निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता, तब वह अपने ही विरुद्ध यह मान लेता है कि वस्तुओं के विषय में इतनी बात (यह कि वे अज्ञेय हैं) निश्चयपूर्वक कही जा सकती है। संदेहवाद (Scepticism) को स्वयं अपने विषय में भी संदिग्ध होना चाहिए। इसी प्रकार जब अज्ञेयवादी (Agnostic) वस्तु-विशेष को अज्ञेय बतलाता है, तब वह यह मान लेता है कि वस्तुओं की अज्ञेयता स्वयं ज्ञेय है। कोई वस्तु अज्ञेय है, यह भी उस वस्तु के सम्बन्ध में एक प्रकार का ज्ञान ही है। इस प्रकार सन्देहवाद और अज्ञेयवाद दोनों असंगत या विरोधग्रस्त हैं।

वास्तव में भारतीय दार्शनिक संशयवाद और अज्ञेयवाद पर नहीं रुक सकते थे। कारण यह है कि उनका लक्ष्य केवल ज्ञान नहीं बल्कि मोक्ष था। ज्ञान मोक्ष का साधन-मात्र था। इसके विपरीत योरुपीय दर्शन का ध्येय विश्व का ज्ञान था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि योरुप में ज्ञान की संभावना और सीमा पर विचार किया जाय। इसी प्रकार भारतवर्ष में मोक्ष की वास्तविकता या सम्भावना में सन्देह प्रकट किया जा सकता था जैसा कि चार्वाक ने किया। किन्तु भारतीय दर्शन पर चार्वाक के जड़वाद ने भी बहुत अधिक प्रभाव नहीं डाला। सम्वित्-शास्त्र पर उसका केवल इतना ही प्रभाव पड़ा कि बौद्धों तथा अन्य तर्क-शास्त्रियों को अनुमान-प्रमाण का मण्डन करने के लिए अपनी युक्तियों को तेज करना पड़ा।

प्रमाण-परीक्षा

भारतीय दर्शन में बहुत प्राचीन काल से ज्ञान या प्रमा के साधन-भूत प्रमाणों पर विचार होता आया है। प्रमाण कितने हैं, इस विषय में विभिन्न दर्शनों में काफी मतभेद है। न्याय-दर्शन में चार प्रमाण माने

गये हैं अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द । वैशेषिक दर्शन केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानता है एवं मीमांसा के टीकाकारों ने अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि अन्य प्रमाण भी माने हैं। संक्षेप में भारतीय दर्शन के सर्वमान्य प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान हैं। आस्तिक दर्शन प्रायः शब्द या श्रुति को भी प्रमाण मानते हैं। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान पर बड़े मनोयोग से विचार किया गया है।

योरुप का बुद्धिवाद—भारतीय दर्शन के विद्यार्थियों को यह बात तनिक विचित्र प्रतीत होती है कि योरुपीय दर्शन में प्रत्यक्ष-प्रमाण या प्रत्यक्ष-ज्ञान पर बहुत ही कम विचार किया गया है। अपने 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ' नामक ग्रंथ में श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने यह मत प्रकट किया है कि योरुपीय दर्शन का झुकाव सदैव बुद्धिवाद की ओर रहा है।* हम देख चुके हैं कि हेराक्लाइटस और पार्मिनिडीज, विशेषतः दूसरे, ने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान की नितान्त अवहेलना की है। सुकरात भी धारणात्मक (Conceptual) ज्ञान का पक्षपाती था; इसीलिए वह परिभाषाओं पर जोर देता था। प्लेटो दीखने वाले जगत् को वस्तु-जगत् की छायामात्र बतलाता है; उसकी सम्मति में भी वास्तविक ज्ञान जाति-प्रत्ययों का ज्ञान है। डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइबनिज तो बुद्धिवादी प्रसिद्ध ही हैं। काण्ट का भी शुद्धबुद्धि की धारणाओं में अतिशय आग्रह और अनुराग है, वे मानो बाह्य जगत् की कुंजियां हैं। शेलिंग से हीगल के विरक्त हो जाने का मुख्य कारण प्रथम विचारक का अनुभव या प्रतिभान (Intuition) को प्रधान घोषित करना था। हीगल का परब्रह्म धारणाओं की समष्टि (System of Categories) या प्रमुख धारणा मात्र है; वह पूर्ण या निरपेक्ष प्रत्यय (Absolute Idea) है, और हीगल की दृष्टि में तर्क-शास्त्र ही तत्त्व-दर्शन (Ontology or Metaphysics) है। यद्यपि ब्रेडले हीगल की रक्त-शून्य धारणाओं (Bloodless

* पृ० १२६-१३३

Categories) से असन्तोष महसूस करता है, फिर भी वह मानता है कि दर्शन-शास्त्र का काम बुद्धि को सन्तुष्ट करना है।❀ अति आधुनिक काल में बर्ट्रेण्ड रसेल आदि यथार्थवादियों ने बर्गसां के प्रतिभान-वाद (Intuitionism) के विरुद्ध फिर वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति और बुद्धिवाद का मण्डन किया है।

पिछले अध्याय में योरुपीय दर्शन की समस्या पर हम जो कुछ कह आये हैं उसे ध्यान में रखते हुए हमें बुद्धि की इस प्रधानता पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये। योरुपीय दर्शन का उद्देश्य विश्व की व्याख्या द्वारा बुद्धि को सन्तुष्ट करना है, किसी तत्त्व पदार्थ की प्राप्ति नहीं।* इसके विपरीत भारतीय दर्शन मोक्ष या आत्म-तत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त हुआ था। क्योंकि प्राप्ति साक्षात् अनुभव के बिना सम्भव नहीं है, अथवा साक्षात् अनुभूति का ही दूसरा नाम है, इसलिए भारतीय दर्शन आत्मानुभव पर अधिक ज़ोर देता रहा। भारतीय दर्शन में अनुभव के प्राधान्य का यही रहस्य है।

फिर भी योरुपीय दर्शन में प्रत्यक्ष-ज्ञान की उपेक्षा पर आश्चर्य होता है। आधुनिक अध्यात्मवादी ब्रेडले और बोसांक्वेट का तो यहां तक कहना है कि बौद्धिक कल्पनाओं से अछूती प्रत्यक्ष वास्तविकताओं (Facts) की सत्ता ही नहीं है।† इसका अर्थ यह है कि केवल प्रत्यक्ष या शुद्ध

❀ ····The object of Metaphysics is to find a general view which will satisfy the intellect, etc,

—Appearance and Reality (Second Edn:) Appendix

*** ब्रेडले तो यहाँ तक कहता है कि बुद्धि का सन्तुष्ट होना ही इच्छाओं और संकल्प-शक्ति का भी सन्तुष्ट होना है।** (In fact, if it satisfies the intellect it *ipso facto* satisfies both desire and will.—Essays on Truth and Reality, पृ० १०१)

† तु० की०······it is asserted that there are no merely given facts but that all facts clearly show the work of

प्रत्यक्ष का अस्तित्व भी संदिग्ध है, ऐसे प्रत्यक्ष से यथार्थ ज्ञान की आशा तो करना ही व्यर्थ है । सत्य वास्तव में विभिन्न प्रतिज्ञाओं या कथनों (Judgments) की समष्टि है । ब्रेडले कहता है कि प्रत्यक्ष या दृश्यमान वास्तविकता के विरुद्ध होने से किसी दार्शनिक सिद्धान्त को ठेस नहीं पहुंचती ।

प्रत्यक्ष-विषयक यह मत भारतीय दर्शनों के सविकल्पक प्रत्यक्ष एवं आधुनिक मनोविज्ञान के (Apperception) से सादृश्य रखता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह इन सब की अपेक्षा उग्र (Radical) या अतिवादी है । नैयायिकों के अनुसार दृष्ट पदार्थ की जाति आदि का भी प्रत्यक्ष होता है; वे ऐसे प्रत्यक्ष को सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति कहते हैं; जाति आदि बौद्धिक कल्पना मात्र नहीं हैं। इसके विपरीत दिङ्नाग का मत है कि वास्तविक प्रत्यक्ष नाम-जाति आदि की कल्पनाओं से मुक्त होता है (प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नाम जात्याद्यसंयुतम्) । देखने की बात यह है कि बौद्ध और नैयायिक दोनों ऐसे प्रत्यक्ष की सत्ता मानते हैं जिसमें बुद्धि का व्यापार नहीं होता ।

यही नहीं, भारतीय दार्शनिकों के अनुसार न केवल प्रत्यक्ष ज्ञान का बौद्धिक ज्ञान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, अपितु प्रत्यक्ष ज्ञान सब प्रकार के अनुमान का आधार है । अनुमान व्याप्ति पर आश्रित है, और व्याप्ति-ज्ञान प्रत्यक्ष के बिना सम्भव नहीं है ।* इस प्रकार बुद्धिवादी भी प्रत्यक्ष की अवहेलना नहीं कर सकता ।

योरुपीय दर्शन में बुद्धिवाद की प्रधानता का एक महत्त्वपूर्ण कारण

mind in "truth making" (A. C. Ewing, Idealism; A Critical Survey, पृ० १९९) बोसांक्वेट कहता है The full facts are comprehensive system (Logic Pt. II, पृ० २८७)

* तु० की० दृष्टाद्दृष्टसिद्धिः (ब्रह्मसूत्र शां० भा० २।२।२); प्रत्यक्ष पूर्वकत्वादनुमानस्य (बृहदा० उप० शां० भा० १।२।२); तथा प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्—(न्यायभाष्य, १।१।१)

यह भी है कि वहाँ के तर्कशास्त्र का जन्मदाता अरस्तू इस तथ्य को नहीं समझ सका कि अनुमान का आधार प्रत्यक्ष है । अरस्तू के अनुसार प्रत्येक निश्चयात्मक उपपत्ति (Demonstration) निगमनात्मक (Deductive) होती है । निगमन के अतिरिक्त निश्चय (Certainty) नहीं हो सकता । अरस्तू का न्याय या सिलाजिज़्म एक सार्वभौम तथ्य (Universal Truth) के वाहक वाक्य से प्रारम्भ होकर एक विशेष-विषयक सत्य या निष्कर्ष पर पहुंचता है । किन्तु इस न्याय के आधारभूत सामान्य वाक्य या मेजर प्रेमिस की उपलब्धि कैसे होती है ? अरस्तू ने इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया । यदि वह इस समस्या पर अधिक गम्भीरता से विचार करता तो सम्भवतः स्वयं वह और बाद के योरुपीय विचारक प्रत्यक्ष को अधिक महत्त्व देते ।

व्याप्ति-ज्ञान की समस्या

तीन अवयव वाले न्याय या "सिलाजिज़्म" का व्याप्तिवाक्य या मेजर प्रेमिस कैसे उपलब्ध होता है, इस पर अरस्तू ने बिल्कुल विचार न किया हो, ऐसा नहीं है । हम किसी सामान्य सत्य तक कैसे पहुंचते हैं ? 'सब मनुष्य मरणशील हैं,' अथवा 'जहां-जहां धुंआं होता है वहां-वहां अग्नि होती है,' इत्यादि 'सर्व'-विषयक सत्यों पर हम कैसे पहुंच सकते हैं ? अरस्तू ने इस प्रश्न के दो उत्तर दिये हैं । (१) प्रथमतः अरस्तू का कथन है कि किसी जाति, सामान्य या श्रेणी (Class) के अन्तर्गत प्रत्येक विशेष की परीक्षा करके उस जाति या श्रेणी-विषयक सामान्य सत्य पर पहुंचा जा सकता है । आधुनिक परिभाषा में इस प्रक्रिया को 'पूर्ण आगमन' (Perfect Induction) कहते हैं । डा० जॉन्सन नामक तर्कशास्त्री ने इसे Summary Induction नाम दिया है जो अधिक उपयुक्त है । जॉन स्टुअर्ट मिल की सम्मति में इस प्रक्रिया को Induction कहना उचित नहीं है । (२) अरस्तू यह भी कहता है कि सामान्य तथ्य का बोध एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि से होता है । अरस्तू की सम्मति

में यह अन्तर्दृष्टि बुद्धि (Nous) का व्यापार है।❀ इस प्रकार के सामान्य सत्यों से ही उपपत्ति (Demonstration) का आरम्भ होता है।

नैयायिकों ने जिसे सामान्य-लक्षण—सन्निकर्ष, प्रत्यक्ष का एक भेद, कहा है, उसे अरस्तू एक प्रकार का बौद्धिक व्यापार बता डालता है। योरुपीय दर्शन अन्तःकरण की सत्ता नहीं मानता, इसलिए उसमें आन्तर प्रत्यक्ष की कल्पना भी विकसित नहीं हो पाई। अरस्तू के Nous शब्द के प्रयोग ने सामान्य-विषयक ज्ञान को प्रत्यक्ष पर अवलम्बित माने जाने से रोका। सामान्य सत्यों का ज्ञान अन्ततः प्रत्यक्ष (Observation) पर अवलम्बित है, इस सिद्धान्त पर आधुनिक-कालीन आगमन-शास्त्र (Inductive Logic) ने ही ज़ोर दिया है। इस शास्त्र के प्रचार का सब से अधिक श्रेय जॉन स्टुअर्ट मिल को है।

किन्तु प्राचीन भारत में आगमनात्मक और निगमनात्मक तर्क-पद्धतियों का भेद नहीं माना गया। वस्तुतः भारतीय न्याय में इन दोनों पद्धतियों का समावेश है। अरस्तू के न्याय का मेजर प्रेमिस अपने सत्य के लिए परमुखापेक्षी रहता है, किन्तु भारतीय न्याय का आधार-स्तम्भ व्याप्ति वाक्य होता है जो प्रत्यक्ष अन्वय और व्यतिरेक-ज्ञान पर आश्रित माना जाता है। एक ही अनुमान-मूलक उपपत्ति में भारतीय तर्कशास्त्र आगमन और निगमन दोनों का समावेश कर देता है।

अनुमान-प्रक्रिया की अनुभव-सापेक्षता की स्वीकृति भारतीय न्याय को अरस्तू के "सिलाजिज़्म" से काफ़ी भिन्न बना देती है। इसलिए हमें श्रीसतीशचन्द्र विद्याभूषण की यह सम्मति कि भारतीय न्याय पर अरस्तू का प्रभाव पड़ा, समीचीन नहीं प्रतीत होती। पांच अवयवों की संख्या भी बाहरी प्रभाव के विरुद्ध साक्षी देती है। वात्स्यायन के न्यायभाष्य में एक मत का उल्लेख है जिसके अनुसार न्याय में दस अवयव होते हैं।*

❀ दे० Joseph, Introduction to Logic (Second Edition) पृ० ३८२–८४, तथा अर्डमान, हिस्टरी भाग १, पृ० १४१-४२

* दे० हिस्टरी ऑफ़ इण्डियन लॉजिक, पृ० १२२

'वेदान्त परिभाषा' तथा अन्य कतिपय विचारकों के अनुसार तीन अवयव पर्याप्त हैं। कुछ बौद्ध तार्किक दो ही अवयव मानने के पक्ष में थे। अवयवों की संख्या-विषयक यह विवाद भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास में एक अन्तरंग घटना-सी प्रतीत होती है।*

प्रो० कीथ ने भी माना है कि गौतम का न्याय स्वभावतः भारतवर्ष में विकसित हुआ। किन्तु उनका अनुमान है कि भारतीय व्याप्तिवाद, जिसका विकसित रूप बौद्ध तर्कशास्त्री दिङ्नाग में मिलता है, सम्भवतः यूनान से प्रभावित हुआ था।† किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं। व्याप्ति-ग्रह का जो उपाय दिङ्नाग ने बतलाया है वह मिल के (Induction) से समानता रखता है। कार्य-कारण-भाव की धारणा और अनुमान-प्रक्रिया में कोई सम्बन्ध है, इसका अरस्तू में कोई संकेत नहीं मिलता।

अनुभव की सहायता से व्याप्ति ज्ञान या व्याप्तिग्रह कैसे होता है? भारतीय तर्कशास्त्र ने प्रारम्भ से ही इस प्रश्न में गहरी अभिरुचि दिखाई है। भारतवर्ष में आगमन शास्त्र (Inductive Logic) का विकास इसी समस्या के समाधान के रूप में हुआ है। इस विषय में नैयायिकों और बौद्धों में काफी मतभेद रहा है। भारतीय दर्शन के विद्यार्थी यह भली

* अरस्तू का न्याय इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है कि जो कुछ एक वर्ग या श्रेणी के विषय में सत्य है वह उस श्रेणी में अन्तर्भूत पदार्थों के विषय में भी सत्य है। भारतीय न्याय का इस 'वर्गसमावेश' (class-inclusion) के सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। अरस्तू के सिलाजिज़्म के Moods और Figures भी उसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता हैं और अरस्तू के तर्कशास्त्र में Reduction का एक विशेष स्थान है। भारतीय न्याय में यह कुछ भी नहीं पाया जाता। यहां अनुमान केवल एक ही प्रकार का माना गया। इसलिए उस पर अरस्तू का प्रभाव मानना नितान्त असंगत है।

† दे० इण्डियन लाजिक एण्ड एटामिज्म, पृ० १८

भांति जानते हैं कि जड़वादी चार्वाक अनुमान की प्रामाणिकता को नहीं मानता। अनुमान का आधार व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु इस अविनाभाव या व्याप्ति का बोध सम्भव नहीं है। 'कुछ' के अनुभव से 'सब' के ज्ञान की ओर संक्रमण नहीं किया जा सकता। कुछ स्थलों में धूम और अग्नि को साथ पाकर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि, 'जहां-जहां धूम होगा वहां-वहां अग्नि होगी'। अनुभव की सहायता से हमें केवल यह ज्ञान होता है कि एक विशिष्ट 'क' का सम्बन्ध एक विशिष्ट 'ख' से है—एक विशिष्ट धुंआ एक विशिष्ट अग्नि से सम्बद्ध है, यह नहीं कि समग्र धूम का समग्र अग्नि से सम्बन्ध है। इसका जो उत्तर बौद्ध तार्किकों ने दिया है वह वर्त्तमान आगमन शास्त्र के उत्तर से विशेष भिन्न नहीं है। बौद्धों का उत्तर निम्न लिखित है:—

कार्य कारण भावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्॥*

बौद्ध के मत में व्याप्ति-सम्बन्ध अथवा अविनाभाव केवल उन पदार्थों में हो सकता है जिनके या तो कार्यकारण भाव है, या तादात्म्य है। उदाहरण के लिए अग्नि धुंए का कारण है, इसलिए अग्नि और धूम में अविनाभाव-सम्बन्ध है। वृक्ष और शिंशपा (शीशम) में तादात्म्य-सम्बन्ध है। जहां शिंशपात्व है वहां-वहां वृक्षत्व है। यहां भी अविनाभाव है। बौद्धों के तादात्म्य-सम्बन्ध में अरस्तू के "डिक्टम" का तथ्य निहित है। उनका कार्य-कारण-भाव पर गौरव जान स्टुअर्ट मिल की आगमन की धारणा के अनुकूल है। आगमन से प्राप्त सामान्य सत्य प्रायः कार्य-कारण-भाव का वाहक होता है।

बौद्धों के विपरीत नैयायिक लोग अविनाभाव या व्याप्ति को 'तादात्म्य' या 'तदुत्पत्ति' तक सीमित नहीं करना चाहते। इन सम्बन्धों के अतिरिक्त भी अविनाभाव या व्यप्ति पाई जा सकती है। जिन दो वस्तुओं में सहचार देखा जाय और व्यभिचार (एक के बिना दूसरे का रहना)

* सर्वदर्शन संग्रह, बौद्ध दर्शन प्रकरण।

न देखा जाय, उन में अविनाभाव मानना चाहिए। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार उपाधि-शून्य साहचर्य ही व्याप्ति है। 'तार्किक रक्षा' कहती है कि रस-रूप आदि में जहां तदात्म्य और तदुत्पत्ति-सम्बन्ध नहीं है, व्याप्ति संभव है।*

नियत साहचर्य जानने के लिए नैयायिक लोग अन्वय और व्यतिरेक की शरण लेते हैं। यदि 'क' की उपस्थिति में 'ख' की उपस्थिति पाई जाय और 'क' के अभाव में 'ख' का अभाव पाया जाय तो समझना चाहिए कि 'क' और 'ख' मे अविनाभाव-सम्बन्ध है। जयन्त भट्ट के मत में व्याप्तिग्रह के लिए व्यतिरेक-निश्चय (एक की अनुपस्थिति में दूसरे की अनुपस्थिति का निश्चय) उतना ही आवश्यक है जितना कि उन वस्तुओं के अन्वय का निश्चय।† न्याय के अन्वय और व्यतिरेक मिल के Joint Method of Agreement and Difference से भिन्न नहीं हैं। यह आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष में इस Joint Method का आविष्कार मिल से शताब्दियों पहिले हो गया था।‡

बौद्धों के विरुद्ध नैयायिकों का कहना है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति-सम्बन्धों का निर्धारण भी अन्वय-व्यतिरेक पर ही निर्भर है। इसलिए अन्वय-व्यतिरेक को ही व्याप्ति का निश्चायक मानना चाहिये। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि मिल ने Joint Method कार्य-कारण-भाव जानने के लिए उपयोगी बतलाया है किन्तु वास्तव में यह पद्धति कार्य-कारण-भाव का निश्चय नहीं करा सकती। वह केवल नियत साहचर्य की ओर इंगित करती है जो एक-काल-स्थायी पदार्थों में भी सम्भव है।

* हि० इ० ला० पृ० ३७६

† दे० पाजिटिव साइन्सेज, ऑफ द एन्शियण्ट हिन्दूज़ पृ० २७१-८०

‡ "अन्वय" और 'व्यतिरेक" पद्धतियों से महाभाष्यकार पतञ्जलि तक परिचित हैं। (दे० वही पृ० २६४)

'तत्त्व-चिन्तामणि' के लेखक गङ्गेश की सम्मति में व्याप्तिग्रह में अन्वय और व्यतिरेक के अतिरिक्त तर्क का भी प्रयोजन होता है। तर्क का प्रयोग तभी किया जाता है, जब व्याप्ति की सत्यता में सन्देह हो। धूम और अग्नि की व्याप्ति में सन्देह होने पर निम्न प्रकार से तर्क करना चाहिए:—

प्रश्न—क्या धुंआ अग्नि के बिना रह सकता है ?

तर्क—यदि धुंआ अग्नि के बिना रह सकता, तो वह अग्नि का कार्य नहीं होता।

पुनः प्रश्न—क्या धुंआ अग्नि का कार्य है ?

तर्क—यदि धुंआ अग्नि से उत्पन्न नहीं हुआ है और किसी दूसरी चीज़ (अवह्नि) से भी उत्पन्न नहीं हुआ है, तो उसे अकार्य होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है।

संशय—धुंआ या तो अग्नि से उत्पन्न हुआ होगा या कारणहीन होगा।

व्याघात या असंगति—यदि संदेहकर्त्ता का सन्देह वास्तविक है तो वह कर्म में प्रवृत्त कैसे होता है ? धुंआ पाने के लिए अग्नि को क्यों खोजता है, अथवा भूख बुझाने के लिए भोजन का अन्वेषण क्यों करता है ? उसकी प्रवृत्ति इस बात की द्योतक है कि वह कार्य-कारण-भाव में विश्वास रखता है। इसलिए धूम को अकार्य नहीं मानना चाहिए, इत्यादि।*

पाठक देख सकते हैं कि गंगेश का 'तर्क' जिससे व्याप्ति-विषयक सन्देह दूर किया जाता है, कार्य-कारण-भाव के अवलम्ब से मुक्त नहीं है। अन्त में गंगेश आदि का कहना है कि व्याप्ति-ज्ञान वस्तुतः धूमत्व-जाति और वह्नित्व जाति के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष पर निर्भर है। धूम और वह्नि के वास्तविक स्वरूप (सामान्य) का ज्ञान ही उनके सम्बन्ध को प्रत्यक्ष कर सकता है। धूमत्व और वह्नित्व का प्रत्यक्ष 'सामान्य-लक्षण-प्रत्यासत्ति' से होता है।

*—दे० हि० इ० ला०, पृ० ४२६

नैयायिकों और बौद्धों के झगड़े का मूल पूर्व विचारकों का यह सिद्धांत है कि अयुत सिद्धि* अथवा नित्य सम्बन्ध के लिए कार्य-कारण-भाव अपेक्षित नहीं है। वैशेषिक सूत्र (७-२-२६) के अनुसार कार्य-कारण में समवाय सम्बन्ध होता है, किन्तु बाद के विचारक, बहुकारणवाद की आलोचना करते हुए भी, इसे नहीं मानते। न्याय-वैशेषिक साहित्य में प्रायः अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियवान्, जाति-व्यक्ति एवं विशेष और नित्य द्रव्य में ही समवाय या नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। कुछ नैयायिक बहुकारणवाद (यह सिद्धान्त कि एक कार्य के समय-समय पर अनेक कारण हो सकते हैं; मृत्यु गोली लगने से भी हो सकती है, विष-पान से भी) का स्वीकार कर लेते हैं। उस दशा में कार्य-विशेष और उसके कारण में नित्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।

युक्ति या तर्क

अनुमान से सम्बद्ध ही युक्ति या तर्क का विषय है। इस सम्बन्ध में दो प्रश्न विचारणीय हैं; (१) युक्ति या तर्क का स्वरूप क्या है; और (२) तर्क की उपयोगिता कितनी है, वह कहां तक प्रामाणिक है। योरुप में युक्ति या तर्क प्रायः अनुमानरूप माना गया है। अरस्तू के सिलाजिज़्म Figures और Moods की विभिन्नता से उन्नीस प्रामाणिक रूप धारण कर लेता है। तर्क का दूसरा आधार विरोध-नियम (Law of Non-Contradiction) रहा है। इसीका कुछ परिवर्त्तित भावात्मक रूप Law of Excluded Middle है। बौद्ध तर्क शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डा० शर्वात्स्की का कथन है कि 'जहां योरुप के तर्क शास्त्र में चिन्तन के तीन मौलिक या व्यापक नियम माने गये हैं वहां भारतीय तर्कशास्त्र केवल एक

* प्रशस्तपाद के अनुसार अयुत सिद्ध पदार्थों में आधार-आधेय-भाव होता है, जैसे द्रव्य गुणों का आधार होता है। आधार और आधेय का सम्बन्ध ही "समवाय" है। कार्य-कारण-भाव के सम्बन्ध में बौद्धों के विचार नैयायिकों से आगे थे।

विरोध-नियम दर्शित करता है।'* किन्तु यह सर्वथा ठीक नहीं है। यह सम्भव है कि भारतीय तर्क शास्त्र में Excluded Middle पर विशेष ज़ोर न दिया गया हो, किन्तु यहां के तार्किक उससे तथा Law of identity से अनभिज्ञ न थे। उदाहरण के लिए जयन्त भट्ट की न्याय मञ्जरी में लिखा है:—

तदुक्तं तत्परिच्छिनत्ति, अन्यद् व्यवच्छिनत्ति, तृतीयप्रकाराभावं च सूचयति।†

इस स्थल में योरुपीय तर्कशास्त्र के तीनों चिन्तन-नियमों का उल्लेख है। इसी प्रकार 'सर्वदर्शन-संग्रह' में Law of Excluded Middle का निर्देश है—परस्पर विरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः, अर्थात् दो विरुद्धों के बीच में तीसरी स्थिति सम्भव नहीं है।‡

भारतीय तर्कशास्त्री प्रायः तर्क का समावेश प्रमाणों (अनुमान) में नहीं करते। वात्स्यायन के मत में तर्क न तो प्रमाणों में सन्निविष्ट है, न प्रमाणान्तर है, तर्क प्रमाणों का अनुग्राहक या सहकारी होता है।§ वात्स्यायन ने तर्क को कारणता-विचार से सम्बद्ध करने की चेष्टा की है,* किन्तु बाद के नैयायिकों ने तर्क का अर्थ कुछ बदल डाला है। डा० चटर्जी के अनुसार तर्क में 'हम किसी वाक्य या प्रतिज्ञा के विरोधी वाक्य की कल्पना करके यह दिखा देते हैं कि किस प्रकार उस विरोधी कल्पना से असंगत निष्कर्ष निकलते हैं।' तर्क द्वारा अनुमान को पुष्ट किया जाता है, यह दर्शित करके कि विवादग्रस्त अनुमान को ग़लत मानना असम्भव निष्कर्ष

*–दे० Buddhist Logic (1932), Vol. I. पृ० ४१६

†–दे० Positive Sciences, पृ० २४५

‡–सर्वदर्शन संग्रह (आनन्दाश्रम सं०), पृ० ७

§ तर्को न प्रमाणं-संगृहीतो, न प्रमाणान्तरम्, प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते–न्यायभाष्य (चौखम्बा सं० सी० भाष्यचन्द्र और खद्योत सहित) पृ० ३२

* एवमविज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्त्या ऊहः प्रवर्तते। वही।

पर पहुँचा देता है।⁂ पंचपादिका के लेखक पद्मपाद की सम्मति में भी तर्क प्रमाणों से भिन्न उनका सहकारी होता है और उसके द्वारा प्रमाण के विषय की सम्भावना में जब शंका हो, तो उसका निराकरण किया जाता है।⁎

किन्तु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्री वाचस्पति मिश्र ने तर्क को अर्थापत्ति और अनुमानरूप कथित किया है।* यह मत योरुपीय तर्कशास्त्र के अधिक समीप है। मीमासा और उत्तरकालीन वेदान्त अर्थापत्ति को भी एक प्रमाण मानते हैं, यद्यपि शङ्कराचार्य ऐसा मानते प्रतीत नहीं होते। अर्थापत्ति का लक्षण वेदान्त परिभाषा ने इस प्रकार किया है—उपपाद्य-ज्ञानेनोपपादक कल्पनमर्थापत्तिः, अर्थात् उपपाद्य ज्ञान के आधार पर उप-पादक की कल्पना अर्थापत्ति कहाती है। यदि 'ख' के बिना 'क' उपपन्न नहीं होता तो 'क' को उपपाद्य और 'ख' को उपपादक कहा जायगा। दिन में न खाने वाले देवदत्त की स्थूलता के उपपादन के लिए यह कल्पना आवश्यक है कि वह रात को खाता है। यहा 'रात को खाना' उपपादक कहा जायगा।‡ तर्क की एक दूसरी परिभाषा प्रसिद्ध है—'व्याप्य के आधार पर व्यापक का आरोप करना तर्क है' (व्याप्यारोपेण व्यापकारोप-स्तर्कः)। यह परिभाषा तर्क को अनुमानमूलक बना डालती है। अर्था-पत्ति में अनुमान-प्रक्रिया और विरोध-नियम दोनों का समावेश हो जाता है। कुमारिल की व्याख्या के अनुसार अर्थापत्ति का काम दो निश्चित ज्ञानों (देवदत्त मोटा है और देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता) के

⁂ The Nyaya Theory of knowledge, pp, 47, 48.

⁎ **क्व''तर्कस्योपयोगः ? विषयाऽसंभव शंकायां तथाऽनुभव फला-नुत्पत्तौ तत्संभव प्रदर्शन मुखेन फल प्रतिबन्ध विगम।**

पंचपादिका (विजया नगरम् सं०), पृ० ३६

* **यश्चिश्चार्थापत्तिरनुमानं वा (ब्र० शां० भा० पर भामती पृ० ५१ तथा प्रमाणान्तरमप्यनुमानमर्थापत्तिर्वा (वही, पृ० ४८८)**

‡ **वेदान्त परिभाषा, शिखामणि-मणिप्रभा सहित (बम्बई), पृ० ३०७-३०६**

पारस्परिक विरोध को मिटाना है जो कि एक तीसरे ज्ञान की सहायता से होता है।* यह भी स्पष्ट है कि एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तु का आक्षेप तभी हो सकता है जब दोनों में व्याप्य-व्यापक-भाव या व्याप्ति-सम्बन्ध हो।

तर्क की आलोचना

हम कह आये हैं कि योरुपीय दर्शन का दृष्टिकोण बुद्धिवादी है। फिर भी योरुप में तर्क या बौद्धिक चिन्तन के विरुद्ध कभी कुछ न कहा गया हो, ऐसा नहीं है। मिश्र का निवासी प्लाटिनस नामक दार्शनिक बुद्धिवाद का विरोधी था। मध्य-युग के विचारक बौद्धिक चिन्तन को बाइबिल की शिक्षाओं से नीचा स्थान देते थे। अनुभववादी लॉक भी बुद्धि को गौण स्थान देता है; उसके अनुसार सारा बौद्धिक ज्ञान अन्तिम विश्लेषण में इन्द्रिय-ज्ञान पर निर्भर है। जर्मन दार्शनिक हीगल के अनुसार मनुष्य की प्रत्येक बौद्धिक धारणा अपूर्ण है और काण्ट कहता है कि बुद्धि-द्वारा परमार्थ वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु तर्क या बौद्धिक चिन्तन पर सबसे प्रबल आक्रमण ब्रेडले ने किया है। ब्रेडले ने चिन्तन-प्रक्रिया की आलोचना में मुख्यतः दो बातें कहीं हैं। (१) ब्रेडले ने यह दिखाया है कि 'सम्बन्ध' की धारणा विरोधग्रस्त है। क्योंकि चिन्तन-प्रक्रिया सम्बन्धात्मक है—प्रत्येक वाक्य में उद्देश्य और विधेय का सम्बन्ध-निर्देश रहता है, इसलिए बौद्धिक चिन्तन-द्वारा तत्त्व पदार्थ को नहीं पकड़ा जा सकता। (२) प्रत्येक वाक्य में उद्देश्य (Subject) को विशेषित किया जाता है। किन्तु कोई भी विशेषण विशेष्य को उसकी पूर्णता में व्यक्त नहीं कर सकता; विशेष्य विशेषण से सदैव अधिक होता है। उदाहरण के लिए 'चीनी मीठी है' इस वाक्य में 'मीठी' विशेषण उद्देश्य अर्थात् चीनी का सम्पूर्ण रूप प्रकट नहीं करता, चीनी मीठी ही नहीं, कुछ और भी है। इसी प्रकार चीनी को सफेद, जगह घेरने वाली आदि कहना भी अपर्याप्त है। कोई उद्देश्य विधेय या विशेषणों में निश्शेष

* दे० दासगुप्त, हिस्टरी, भाग १, पृ० ३८१-३६४

नहीं होता। इसलिए कोई वाक्य, जो कि चिन्तन की इकाई है, सम्पूर्णतः सत्य नहीं हो सकता।*

फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां ने भी बौद्धिक चिन्तन का विरोध किया है। बौद्धिक चिन्तन केवल व्यावहारिक सत्य तक पहुंचा सकता है, निरपेक्ष सत्य तक नहीं। बर्गसा के मत का विशेष विवरण हम प्रत्यक्ष के अन्तर्गत देंगे।

भारतीय विचारक प्राचीन काल से ही तर्क की अपर्याप्तता घोषित करते आये हैं। मुण्डकोपनिषद् कहता है—ब्रह्म न चक्षु से ग्रहण किया जा सकता है, न वाणी (तर्क आदि) से (मुण्डक, ३।१।८)। कठोपनिषद् स्पष्ट घोषित करता है कि आत्म-ज्ञान तर्क से नहीं हो सकता—नैषा तर्केण मतिरापनेया (२।६)। तथापि भारत दार्शनिक साहित्य में तर्क को अप्रमाण या कम प्रमाण कथन करने के लिए एक विचारक विशेष रूप से प्रसिद्ध है, अर्थात् वेदान्त सूत्रों के भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' सूत्र पर भाष्य करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि तर्क विश्वसनीय या मान्य नहीं है।

भारतीय दर्शन के विद्यार्थी जानते हैं कि शङ्कराचार्य स्वयम् एक महान् तार्किक हैं। तर्क के बल पर उन्होंने भारत के प्रायः सभी दूसरे दार्शनिक सम्प्रदायों का खण्डन किया है। फिर उन्होंने तर्क को अप्रतिष्ठित क्यों कहा है? उनकी आलोचना का आधार कोई लम्बा-चौड़ा सम्वित्-शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं है। वे मनुष्यों की सहज बुद्धि (Commonsense) का आश्रय लेकर ही तर्क की आलोचना करते हैं। वे कहते हैं—'यथार्थ ज्ञान के सम्बन्ध में मतभेद असम्भव है। किन्तु यह प्रसिद्ध है कि तर्कज्ञान एक-दूसरे के विरोधी होते हैं, जिसे एक तार्किक

* तु० की० 'All judgments are partially false since all judgments assert some relation. Bradley also argues that the subject and the predicate of the judgment are never identical and that 'S is P' is never strictly true (Ewing, वही पृ० २२३)

सम्यग्ज्ञान प्रतिपादित करता है, उसका दूसरा तार्किक खण्डन कर डालता है...........क्योंकि तर्क का आधार उत्प्रेक्षा या कल्पना मात्र होती है, इस लिये तर्क अप्रतिष्ठित है।, (ब्रह्मसूत्र भाष्य, २।१।११)।

कठिनाई में डालनेवाली बात यह है कि दूसरे स्थलों में शङ्कर ने तर्ककी प्रशंसा भी की है। उन्हें प्रतिपक्षी की इस युक्ति की समीचीनता स्वीकार करनी पड़ी है कि तर्क का अप्रतिष्ठित होना भी तर्क से ही सिद्ध किया जा सकता है।❀ वह यह भी मानते हैं कि श्रुति का अर्थ-निर्णय करने में तर्क का उपयोग करना चाहिए।* 'उपदेशसाहस्री' में वे कहते हैं कि सांख्य, कणाद और बौद्धमत की कल्पनाएँ श्रुति और युक्ति के विरुद्ध हैं, अतएव त्याज्य हैं (१६।६४।६५)। अन्यत्र सांख्य की आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं कि कोई दार्शनिक पद्धति इसलिये ग्राह्य नहीं हो सकती कि वह हमें रुचती है, उपपत्ति (तर्क या प्रमाण) के बल पर ही कोई व्यवस्था स्वीकार की जा सकती है (२।३।५०)।† कठ-भाष्य में उन्होंने यहां तक कह डाला है कि सत् और असत् के स्वरूप-निर्णय में बुद्धि ही एक मात्र प्रमाण है (बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे, ६।१२)।

तर्क के बारे में शंकर की इन दो प्रकार की परस्पर विरोधी उक्तियों का क्या रहस्य है? हम ऊपर कह आये हैं कि तर्क को भारतीय विचारकों ने अनेक प्रकार से वर्णित किया है। एक अर्थ में तर्क अनुमान-मूलक है और उसका प्रमाणों में अन्तर्भाव हो सकता है। दूसरे अर्थ में तर्क का विषय सम्भावना-असम्भावना का निश्चय है। इस अर्थ में तर्क प्रमाणों से भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य के मस्तिष्क में समय-समय

❀ ब्र० शां० भा० २।१।११ * तस्माद् युक्तं।वेद वाक्य निर्णयाय विचारयितुम्—बृह० भा० ३।९।७

† न ह्यभिलषित सिद्धि निबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुम, उपपत्त्या तु कयाचिद् व्यवस्थोच्येत। ब्र० शां० भा० २।३।५०

पर तर्क की ये दोनो धारणाएँ उपस्थित हो जाती हैं, और इन दोनों का भेद उन्हें स्पष्ट न था। वास्तव में शङ्कराचार्य केवल उस तर्क को त्याज्य समझते हैं जो उत्प्रेक्षामूलक है, अथवा अनुभव पर आश्रित नहीं है। वह तर्क-मात्र के विरोधी नहीं हैं, और अनुमान-मूलक तर्क को त्याज्य नहीं समझते। यह निम्न अवतरणों से स्पष्ट हो जायगा।

(१) विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए शङ्कर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वे प्रमाणों से बहिर्भूत सम्भावना-असम्भावनाविषयक आलोचनारूप तर्क के विरोधी हैं। विज्ञानवादी तर्क करता है कि बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है, **असम्भव** होने से। वे न परमाणुरूप हो सकती हैं न विपरीत। इसके उत्तर में शङ्कर कहते हैं—जिसकी प्रमाणों से उपलब्धि होती है, उसी को सम्भव कहना चाहिए। बाह्य पदार्थ सब प्रमाणों से उपलब्ध होते हैं, उनकी व्यतिरेक-अव्यतिरेक आदि विकल्पों से असम्भावना (या असत्ता) सिद्ध नहीं की जा सकती।※

(२) अन्यत्र शङ्कर लिखते हैं कि 'श्रुति के अविरुद्ध तर्क **अनुभव का अंग होने के कारण** ग्राह्य है।'* एक जगह वे प्रतिपक्षी से कहलाते हैं कि 'युक्ति श्रुति से श्रेष्ठ है, क्योंकि वह श्रुति की अपेक्षा अनुभव के अधिक निकट होती है; युक्ति दृष्ट की समता से अदृष्ट का समर्थन करती है।'† अन्तिम अवतरण से यह स्पष्ट है कि शङ्कर युक्ति को अनुमान का पर्याय समझते हैं। भामतीकार की दी हुई युक्ति की परिभाषा हमारी इस व्याख्या की पुष्टि करती है। हम कह चुके हैं कि भारतीय विचारक अनुमान को प्रत्यक्ष या अनुभव-मूलक मानते हैं। विशेषतः शङ्कर का यही

※ यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेन प्रमाणेनोपलभ्यते तत्संभवति...इह तु..सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथंव्यतिरेकाव्यतिरेकादि विकल्पैर्न संभवतीत्युच्येत-ब्रह्मसूत्रभा० २।२।२८

* श्रुत्यनुगृहीतः......तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते। वही, २।१।६

† दृष्टसाम्येन चाऽदृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते विप्रकृष्यते तु श्रुतिः इत्यादि। वही, २।१।४

मत है। उनके अनुसार अनुभव और अनुभव-मूलक तर्क ही ग्राह्य हैं।*

जैसा कि हमने ऊपर बतलाया हीगल और ब्रेडले ने बौद्धिक चिन्तन की आलोचना की है। किन्तु यह विचारक यह नहीं बतलाते कि बुद्धि को छोड़कर हम किस दूसरी चीज का अवलम्ब लें। यदि बौद्धिक धारणाएँ और चिन्तन अविश्वसनीय हैं, तो ज्ञान का विश्वसनीय साधन क्या है ? वास्तव में हीगल और ब्रेडले दोनों ही बौद्धिक चिन्तन का अतिक्रमण नहीं कर सके हैं। दोनों अन्त तक बुद्धिवादी रहते हैं। इसके विपरीत शङ्कराचार्य तर्क की आलोचना करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, वे यह भी बतलाते हैं कि तर्क को छोड़ देने पर तत्त्व-ज्ञान का दूसरा कौन-सा साधन रह जाता है। शङ्कर के अनुयायी वेदान्तियों तथा कुछ दूसरे भारतीय विचारकों के अनुसार भी तत्त्व-ज्ञान का सर्वप्रधान साधन अनुभव है। अनुभव पर आधारित तर्क या अनुमान भी त्याज्य नहीं है।

प्रत्यक्ष प्रमाण (अपरोक्ष)

हम कह चुके हैं कि भारतीय दर्शन के सर्वमान्य प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान हैं। उनमें अनुमान प्रत्यक्ष पर निर्भर है, इसलिए प्रत्यक्ष या अनुभव ही प्रमाणों में प्रधान है। अतएव प्रमाणों में प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ कहते हैं। भारतीय दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष पर बड़े मनोयोग से विचार किया है। यहां प्रत्यक्ष की वे सब आलोचनाएँ नहीं दी जा सकतीं जो विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों द्वारा की गई हैं। इस प्रसंग में पाठकों को यह अवश्य याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष बाह्य पदार्थों तक ही सीमित नहीं है। न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष का लक्षण 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान' किया गया है। किन्तु बाद के नैयायिकों ने इस परिभाषा को स्वीकार नहीं किया। ईश्वर के इन्द्रिया नहीं

* अनुभव-विरुद्ध तर्क त्याज्य समझना चाहिए।

तु० की० प्रत्यक्ष विरोधे ऽनुमानस्याप्रामाण्यात्—बृह० भा० ४।३।६

न चानुमानं प्रत्यक्ष विरोधे प्रामाण्यं लभते। वही, २।१।२०

पंचदशी कहती है, स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्।

है, तो क्या यह कहा जायगा कि ईश्वर को विश्व का प्रत्यक्ष नहीं होता ? इसी प्रकार न्याय-सूत्र की परिभाषा योगियों के प्रत्यक्ष को लागू नहीं होती। अभिप्राय यही है कि साक्षात् अनुभव इन्द्रिय-ज्ञान के बाहर भी होता है। इसलिए प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा की गई है, अर्थात् वह ज्ञान जो किसी दूसरे ज्ञान की सहायता से उत्पन्न या प्राप्त नहीं हुआ (ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्)। अनुमिति अथवा अनुमान-जन्य ज्ञान व्याप्ति-ज्ञान की मध्यस्थता से होता है, इसलिए वह प्रत्यक्ष से भिन्न है। 'प्रत्यक्ष' का वाच्यार्थ है कि वह जो आंखों या इन्द्रियों के सामने है। प्रत्यक्ष शब्द के इस अनुषङ्ग (Association) से बचने के लिए वेदान्ती लोग 'अपरोक्ष' शब्द का प्रयोग करना पसन्द करते हैं।

प्रत्यक्ष या अपरोक्ष-ज्ञान का स्वरूप समझने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयास सांख्य और वेदान्त दर्शनों ने किया है। उनके प्रत्यक्ष-सम्बन्धी विश्लेषण का ठीक-ठीक महत्त्व आंकने के लिए हम उसकी तुलना फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां के अनुभववाद से करेंगे।

योरुप के बुद्धिवादी वातावरण में बर्गसां की स्थिति एक अपवाद-सी है। इस विचारक ने भौतिक विज्ञान की बौद्धिकता की तीव्र आलोचना की है। उसका बुद्धिविरोध ब्रेडले की अपेक्षा अधिक संगत और उग्र है। संक्षेप में, बर्गसा का कहना है कि विश्व का मूल-तत्त्व गतिमय, प्रवाहमय एवं कालसंक्रमणरूप (Duration) है। हमारी बुद्धि, जिसकी प्रेरणा व्यावहारिक समस्याएं हैं, प्रवाहरूप विश्वतत्त्व को स्थिर प्रदर्शित करती है। बुद्धिजन्य ज्ञान इसीलिए प्रमाण नहीं है। विश्व तत्त्व की प्रवाहरूपता का ज्ञान हम अपने भीतर झांक कर पा सकते हैं।

बर्गसा के अनुसार बुद्धि और प्रतिभान या अनुभव (Intuition) ज्ञान प्राप्त करने के दो नितान्त भिन्न साधन हैं। बौद्धिक ज्ञान में हम ज्ञेय पदार्थ के चारों ओर घूमते हैं; अनुभव में हम पदार्थ में प्रवेश कर जाते हैं।* बौद्धिक ज्ञान सापेक्ष और प्रतीकरूप (Relative and

* दे० Introduction to mataphysics, पृ० १

Symbolic) होता है; प्रतिभान-जन्य ज्ञान निरपेक्ष ज्ञान है। अन्यत्र बर्गसां कहता है कि अनुभव 'एक प्रकार की मानस-सहानुभूति (Intellectual Sympathy) है जिसके द्वारा हम अपने को पदार्थ के भीतर रख लेते हैं और उसकी अनिर्वाच्य वैयक्तिकता से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।'* किन्तु बर्गसां यह नहीं बतलाता कि पदार्थों से तादात्म्य कैसे स्थापित किया जा सकता है। वह केवल यह कहता है कि कम-से-कम एक वास्तविकता ऐसी है जिसका हमें साक्षात् ज्ञान होता है; यह वास्तविकता हमारी आत्मा है। अपने भीतर झांक कर हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि हमारी आन्तरिक वास्तविकता अर्थात् आत्मा निरन्तर परिवर्तनरूप या प्रवाहमयी है।

बर्गसां की प्रत्यक्ष या प्रतिभान की परिभाषा में तादात्म्य (Coincide) शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रातिभ ज्ञान (Intuition) का अर्थ है किसी पदार्थ को तादात्म्य द्वारा जानना। सर राधाकृष्णन् भी प्रातिभ ज्ञान का यही लक्षण कहते हैं। वेदान्त का भी यही मत है।* किन्तु बर्गसां यह नहीं बतलाता कि आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के ज्ञान में प्रतिभान का किस प्रकार उपयोग हो सकता है। बाह्य पदार्थों के ज्ञान में भी प्रत्यक्ष और अनुमान का भेद रहता है; बर्गसां इसकी कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता।

प्रत्यक्ष की इस समस्या को समझ लेने पर पाठक वेदान्त के 'अपरोक्ष'-सम्बन्धी सिद्धान्त का महत्त्व अधिक ठीक से हृदयंगम कर सकेंगे। वेदान्त की तत्त्व-मीमांसा के अनुसार ब्रह्म, आत्मा या चैतन्य स्वयं अपने स्वरूप में कर्त्ता या भोक्ता नहीं है। अपने यथार्थरूप में आत्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव है। सांख्य का पुरुष भी वेदान्त की आत्मा की भांति असंग है। इन दोनों दर्शनों के अनुसार आत्मा अन्तःकरण की उपाधि से कर्त्ता और भोक्ता बन जाता है; अन्तःकरण से उपहित या अवच्छिन्न आत्मा ही कर्त्ता या प्रमाता है। वेदान्त में शुद्ध चैतन्य को साक्षी और

* वही, पृ० ८

* An Idealist View of Life पृ० १३८

उपाधियुक्त चैतन्य को जीव कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तःकरण, जो साक्षी या शुद्ध चैतन्य की ज्योति से प्रकाशित होता है, दृश्यमान पदार्थ-या विषय का रूप धारण कर लेता है। रूप, रस आदि के प्रत्यक्ष में अन्तः-करण तद्रूप बन जाता है।❀ अन्तःकरण के इस रूप को वृत्ति कहते हैं और चैतन्य से प्रकाशित वृत्ति "वृत्ति-ज्ञान" कहलाती है। क्योंकि अन्तः-करणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय अर्थात् दृश्यमान पदार्थ प्रमाता का अंशभूत बन जाता है। वेदान्त परिभाषा कहती है—'घटादि विषय का प्रत्यक्ष उसका प्रमाता से अभिन्न होता है।'*

इस प्रकार बर्गसा और वेदान्त के सिद्धान्तों में महत्त्वपूर्ण समानता है। वेदान्त के विश्लेषण की विशेषता इस में है कि वह आत्मा के अतिरिक्त पदार्थों अर्थात् बाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष की भी व्याख्या कर सकता है। पाठक यह भी देख सकते हैं कि प्रत्यक्ष की यह परिभाषा न्याय आदि की परिभाषा से अधिक तलस्पर्शिनी है। न्याय की परिभाषा की तुलना में हम बर्गसां और वेदान्त की परिभाषा को 'स्वरूप लक्षण' कह सकते हैं, जब कि न्याय का लक्षण बाह्य या तटस्थ लक्षण—सा है।

किन्तु वेदान्त का विश्लेषण यहीं समाप्त नहीं हो जाता। 'वेदान्त परिभाषा' के उद्धरण में यह कहा गया है कि विषय का प्रत्यक्ष प्रमाता से अभिन्न होना है। यहां प्रश्न उठ सकता है कि स्वयं प्रत्यक्ष क्या है। प्रत्यक्षता का क्या अर्थ है? वेदान्त परिभाषा का उत्तर है कि प्रत्यक्षता या प्रत्यक्ष प्रमा वास्तव में चैतन्य का ही दूसरा नाम है†। प्रत्यक्ष ज्ञान या अपरोक्ष अनुभव का वास्तविक अभिप्राय है चेतना या चैतन्य। वेदान्त के मत में स्वयं आत्मा ही ज्ञान या प्रत्यक्षता रूप है। 'मणिप्रभा' कहती है—

❀ तु० की० रूपाकारेण हि हृदयं परिणतम्—बृह० शां० भा० ३।८।२०

* घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षन्तु प्रमात्रभिन्नत्वम्

—वेदान्त परिभाषा, पृ० ७४

† प्रत्यक्षप्रमा त्वत्र चैतन्यमेव—वही, पृ० ४१

ज्ञाननिष्ठ ज्ञानत्वमेव प्रत्यक्ष लक्षणं ज्ञाननिष्ठ प्रत्यक्षत्वव्यवहार-प्रयोजकं ज्ञाननिष्ठप्रत्यक्षत्व प्रयोजकं चेत्यर्थः, अर्थात् ज्ञान का जो ज्ञानत्व है वही प्रत्यक्ष का लक्षण है—ज्ञान और प्रत्यक्षता एक ही बात है, उसी के कारण ज्ञान में प्रत्यक्षता का व्यवहार होता है; ज्ञान में प्रत्यक्षता की उपस्थिति का भी वही (ज्ञानत्व) कारण है❀। ज्ञान का अर्थ है अनुभूति या चेतना, यही प्रत्यक्ष का भी अर्थ है।

श्रुति कहती है—यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, अर्थात् ब्रह्म या आत्मा साक्षात् या अपरोक्षरूप है। 'कल्पतरुपरिमल' के अनुसार अभिव्यक्त चैतन्य से अभिन्नता ही पदार्थ विशेष की अपरोक्षता है*। स्वयं ब्रह्म नित्य अभिव्यक्त जीव चैतन्य से अभिन्न है, इसलिए वह सदैव अपरोक्ष ही है। स्वतः अपरोक्ष ब्रह्म की परोक्षता का अवभास भ्रम या अज्ञान के कारण है। वेदान्त मत में अन्तःकरण सीधे साक्षी के ज्ञान का विषय होता है, जब कि पदार्थों का प्रत्यक्ष अन्तःकरण की वृत्तियों के माध्यम से होता है। इन्द्रियों का काम अन्तःकरण और दृश्य विषय को सम्बद्ध कर देना है।

ज्ञान का स्वरूप

वेदान्त का प्रत्यक्ष-सम्बन्धी मत उसकी ज्ञान स्वरूप-मीमांसा से गहरा सम्बन्ध रखता है। ज्ञान किसे कहते हैं? हमने ऊपर कहा है कि वेदान्त के अनुसार आत्मतत्त्व या आत्मचैतन्य ही ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ है चेतना (Conciousness); और चेतना या चैतन्य ही आत्मा है। किन्तु आत्मा तो निरंजन, निर्विकार है; फिर यह कहने का क्या अर्थ होगा कि अमुक में अमुक वस्तु-सम्बंधी ज्ञान उत्पन्न हुआ? इसका उत्तर यह है कि मुख्य अर्थ में तो आत्मा ही ज्ञान है, किन्तु गौण अर्थ में आत्म-ज्योति से प्रकाशित अन्तःकरण की वृत्तियों को ज्ञान कहते

❀ वही, पृ० ४२

* अभिव्यक्त चैतन्याऽभिन्नत्वमर्थस्याऽपरोक्ष्यम्

—ब्रह्मसूत्र शां० भा० (भामती-कल्पतरु-परिमल सहित), पृ० ५५

हैं† । आत्मतत्व अनादि और अविकार है, किन्तु वृत्तिज्ञान सादि अतएव सविकार है । वृत्ति-ज्ञान में क्या होता है ? भामती का उत्तर है कि अर्थ या विषय का प्रकाश अथवा अभिव्यक्ति ही ज्ञान या अनुभव है ।*

यहां पाठक एक बात नोट करें । वेदान्त-कृत ज्ञान का विश्लेषण मुख्यतः प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव का विश्लेषण है । वास्तव में वेदान्त परिभाषा का यह कथन कि 'प्रत्यक्ष प्रमा का अर्थ चैतन्य या आत्मा है', सर्वथा ठीक नहीं । चैतन्य रूप प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमा या अप्रमा नहीं कहा जा सकता; वह मात्र अपरोक्षानुभूति है । इस भूल का सुधार करने के लिए ही शायद परिभाषाकार को जोड़ना पड़ा है—चैतन्यरूपमेव ज्ञानमबाधित घटादिवृत्त्यवच्छिन्नं घटादि प्रमेत्युच्यते,❀ अर्थात् चैतन्यरूप ज्ञान या चित् शक्ति ही **अबाधित** घट आदि की वृत्ति से अवच्छिन्न होकर घटादिविषयक प्रमा कहलाती है ।

प्रत्यक्ष ज्ञान में वेदान्त की अभिरुचि भारतीय चिन्ता की प्रकृति के अनुकूल ही है । हम ऊपर कह चुके हैं कि योरुपीय दर्शन में प्रत्यक्ष पर बहुत कम विचार हुआ है । भारत और योरुप के इस रुचिभेद का एक विचित्र परिणाम दिखाई देता है । इसका कुछ संकेत हम ऊपर के पेराग्राफ में कर चुके हैं । ज्ञान के **स्वरूप** पर विचार करते समय भारतीय विचारकों की दृष्टि प्रधानरूप से प्रत्यक्ष ज्ञान पर रहती है; इसके विपरीत योरुपीय विचारकों का ध्यान मुख्यतः बौद्धिक ज्ञान पर जमा रहता है । फल यह है कि जहां वेदान्त ज्ञानत्व और प्रत्यक्षत्व को एक घोषित करता है, वहां योरुपीय विचारक प्रायः ज्ञान को प्रत्ययात्मक या धारणात्मक बतलाते हैं ।

दूसरा भेद यह है कि योरुपीय दार्शनिकों की दृष्टि में ज्ञान की सम्भावना-विषयक प्रश्न इतना अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है, कि वे ज्ञान के स्वरूप पर विचार करते-करते उसकी सम्भावना पर विचार करने में प्रवृत्त

† तु० की० वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्--विवरणे ।

* योऽयमर्थप्रकाशः फलम्—ब्र० शां० भा० भामती, पृ० १६

❀ वही, पृ० ४१

हो जाते हैं। यह बातें सुकरात, प्लेटो, डेकार्ट, स्पिनोज़ा और काण्ट तथा हीगल के सम्बन्ध में ही नहीं, अनुभववादी लॉक के सम्बन्ध में भी ठीक हैं। अपने पूर्ववर्ती डेकार्ट और परवर्ती काण्ट की भाति लॉक का प्रधान उद्देश्य भी मानव-बुद्धि (Human Understanding) की शक्ति और सीमा निर्धारित करना था;* ज्ञान का स्वरूप निर्णय उसका प्रधान लक्ष्य न था। अपने "Essay on Human Understanding" ग्रन्थ में लॉक ने मुख्यतः दो बातें बतलाई हैं, एक यह कि हमारे सब प्रत्ययों या विचारों (Ideas) का स्रोत इन्द्रिय-ज्ञान है, और दूसरी यह कि किस प्रकार सरल प्रत्ययों के सम्मिश्रण से जटिल प्रत्ययों का आविर्भाव होता है। अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि के प्रभाव के कारण लॉक को भी प्रत्ययात्मक (Conceptual) ज्ञान पर ही अधिक लिखना पड़ा है। भारतीय दर्शनों की भांति प्रत्यक्ष का स्वरूप समझने की प्रवृत्ति लॉक में नहीं पाई जाती। लॉक के अनुसार प्रत्ययों का ज्ञान ही प्रत्यक्ष या अनुभवरूप है। प्रत्यक्ष के विश्लेषण में उल्लेखनीय प्रयत्न बर्गसां आदि अति आधुनिक विचारकों ने ही किया है।❀

योरुपीय ज्ञान मीमांसा में काण्ट की "क्रिटीक आफ प्योर रीज़न" का एक विशेष स्थान है। काण्ट के इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी प्रधानतः प्रत्ययात्मक ज्ञान का ही विश्लेषण है। प्रारम्भ में काण्ट निम्नलिखित समस्या को लेकर चलता है—गणित और विज्ञान में सार्वभौम और आवश्यक या निश्चित (Universal and Necessary) कथन या प्रतिज्ञाएँ (Judgments) किस प्रकार सम्भव हैं? जैसा कि प्रो० ईविंग ने लिखा है, काण्ट का उद्देश्य भौतिक शास्त्र का दार्शनिक मण्डन करना या विज्ञान

* दे० अर्डमान, हिस्टरी, भाग २, पृ० १०५

❀ इस प्रसंग में आस्ट्रिया के मेनांग (Meinong), नव्य तथा समीक्षात्मक यथार्थवादी (New and Critical Realists) विचारकों-जार्ज सेण्टायन, सी० बी० ब्राड आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

के लिए दार्शनिक आधार प्रस्तुत करना था।* संक्षेप में, काण्ट की ज्ञान मीमांसा का सारांश या निष्कर्ष इस प्रकार है : मनुष्य में ज्ञान की दो शक्तियां (Faculties) हैं अर्थात् इन्द्रियां और बुद्धि। इन्द्रिय-शक्ति (Sensibility) का काम तरह-तरह के **असम्बद्ध** (Unconnected) सम्वेदनों को उपस्थित करना है और बुद्धि का काम इस सम्वेदन-राशि (Sense-manifold) में विभिन्न सम्बन्ध स्थापित करना है। यदि सम्वेदन-राशि में बुद्धि सम्बंध-स्थापन न करे तो हमें वस्तुओं (Objects) का अनुभव न हो सके। हमारी प्रज्ञा या बुद्धि (Understanding) सम्वेदन-राशि को सार्वभौम और अनुभव-निरपेक्ष (a priori) अर्थात् विषय जगत् से न आये हुए सम्बन्ध-सूत्रों में बांधकर असम्बद्ध सम्वेदनों को वस्तुओं का स्वरूप दे देती है। काण्ट के अनुसार अनुभव के एक तत्त्व अर्थात् सम्वेदन-समूह का कारण वस्तु जगत् अथवा द्रष्टा से बाहर तत्त्व पदार्थ हैं, तथा दूसरे तत्त्व अर्थात् सम्बन्धों का स्रोत हमारी बुद्धि है। यह बुद्धि व्यक्ति-विशेष की नहीं, मानवता की बुद्धि है। यही कारण है कि अनुभव जगत् के कार्य-कारण-भाव आदि सम्बन्ध सार्वभौम और आवश्यक प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि एक ही पदार्थ सब के अनुभव का विषय बन जाता है और इसीलिए भौतिक शास्त्र आदि में आवश्यक और सार्वभौम कथन या प्रतिज्ञाएँ सम्भव हैं। काण्ट का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि **विषयता** (Objectivity) और **सार्वभौमता** (Universality) एक ही वस्तु है।❀ बुद्धि की जो

* '... to justify science philosophically' **और** 'to provide a philosophical basis for physical science'— A short commentary on Kant's Critique of Pure Reason, पृ० ६६, ६.

❀ **तु० की०**, 'Objectivity and universality are equivalents of each other.'

Edward Caird, Hegel, पृ० ११६

धारणाएँ विषयता की प्रतीति सम्भव बनाती हैं, वे ही सम्बन्धों की सार्वभौमता की भी गारण्टी देती हैं। सम्वेदन-समूह में बुद्धि द्वारा स्थापित सम्बन्ध सार्वभौम सम्बन्ध हैं, इन सम्बन्धों के बिना विषयता अर्थात् विषयभूत पदार्थों का अनुभव सम्भव नहीं है। मनुष्य केवल उन्हीं वस्तुओं का अनुभव कर सकता है जिनके निर्माण में उसकी बुद्धि का हाथ है। और क्योंकि हमारी बुद्धि बाह्य जगत् के निर्माण का हेतु है इसलिए हम गणित और विज्ञान में बाह्य जगत् के सम्बन्ध में सार्वभौम और आवश्यक सत्यों का अन्वेषण कर सकते हैं। अन्यथा हम बाह्य जगत् की किसी घटना के बारे में यह नहीं कह पाते कि उसे **आवश्यकरूप से** ऐसा ही होना चाहिए, न हम प्राकृतिक घटनाओं के विषय में भविष्यवाणी ही कर सकते हैं।

काण्ट की ज्ञान-मीमासा के इस दिग्दर्शन से यह स्पष्ट है कि काण्ट के विश्लेषण का विषय प्रत्ययात्मक या बौद्धिकज्ञान है, वह ज्ञान जिसमें पदार्थ या पदार्थों की एकता, कार्य-कारण-भाव आदि का आभास रहता है। केवल सम्वेदन-राशि का अनुभव भी अनुभव है, और उस अनुभव का विश्लेषण भी प्रयोजनीय हो सकता है, काण्ट इसे महसूस नहीं करता। दिङ्नाग ने जिसे 'कल्पनाऽपोढ़' प्रत्यक्ष कहा है, उसके विश्लेषण में योरुपीय विचारकों का विशेष मन नहीं लगता। अपरोक्षानुभूति का निरूपण उन्हें कम पसन्द है। वस्तुतः यह निरूपण, जैसा कि हम वेदान्त में देख चुके हैं, सम्वित् शास्त्र की सीमा के बाहर जाकर ज्ञान या अनुभूति नामक वास्तविकता की तत्त्व मीमासा (Ontological Analysis) का रूप धारण कर लेता है। अनुभव की घटना में विश्व की कौन-कौन शक्तियां सक्रिय होती हैं, वेदान्त की ज्ञानमीमांसा अन्त में इस प्रश्न पर विचार करने लगती है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में दर्शन-शास्त्र को नितान्त भिन्न तत्त्वमीमांसा आदि शाखाओं या श्रेणियों में विभाजित करना कृत्रिम ही है। प्रत्यक्ष, अनुमान

आदि के विश्लेषण को तात्विक मान्यताओं (Ontological presuppositions) से अलग नहीं किया जा सकता।

प्रमा और प्रामाण्य

न्याय, वेदान्त और प्लेटो—ज्ञान की सम्भावना, साधनों एवं स्वरूप के अतिरिक्त सम्वित्-शास्त्र में कुछ अन्य समस्याओं पर भी विचार होता है। प्रमा या यथार्थ ज्ञान क्या है, इस प्रश्न पर पूर्व और पश्चिम दोनों जगह के दार्शनिकों ने प्रकाश डालने की चेष्टा की है, किन्तु प्रामाण्य की समस्या पर विशेषतः भारतीय दर्शन में ही विचार हुआ है। भारतीय दर्शन में प्रमा या यथार्थ ज्ञान के सम्बन्ध में सब से प्रसिद्ध परिभाषा नैयायिकों की है। न्याय के अनुसार वस्तु-सम्वादीज्ञान को प्रमा कहते हैं। जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही जानना यथार्थ ज्ञान है*। योरुपीय दर्शन में इस सिद्धान्त को (Correspondence Theory) कहते हैं। किन्तु वेदान्त के अनुसार तात्त्विक पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं। तात्विक पदार्थ वह है जिसके अनुभव का कभी बाध नहीं होता, जो अबाधित अनुभव का विषय है। शुक्ति में दीखने वाली रजत का बाद के अनुभव से बाध हो जाता है, इसलिये रजत-विषयक ज्ञान मिथ्या ज्ञान या भ्रम है। प्रमा उसी अनुभव या ज्ञान को कहा जायगा जिसके विषय का कभी दूसरे अनुभव द्वारा अपलाप या बाध नहीं होता। वेदान्त के अनुसार तात्त्विकता के दर्जे (Degrees) हैं, कुछ वस्तुएँ कम तात्त्विक हैं और कुछ अधिक। स्वप्न के पदार्थों और भ्रम में दीखने वाले पदार्थों (जैसे शुक्त-रजत और रज्जु-सर्प) की अपेक्षा जागृत दशा में अनुभूत होने वाले पदार्थ, जो देश-काल के नियमों का पालन करते हैं, जो कार्य-कारण भाव से बंधे हैं, अधिक तात्त्विक हैं, जब कि पूर्णरूप से तात्त्विक केवल ब्रह्म या आत्मा है। वेदान्त तीन प्रकार की सत्ताएँ मानता है अर्थात् प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक। स्वप्न और भ्रम में दीखने वाले पदार्थों की प्रातिभासिक

* तद्वति तत्प्रकारको ऽनुभवोयथार्थः (तर्क संग्रह)

सत्ता है; प्रतीति ही उनका अस्तित्त्व है। प्रतीति के बाहर वे हैं ही नहीं। देश-काल में फैले हुए बाह्य जगत की व्यावहारिक सत्ता हमारे सारे व्यापारों का आधार है। किन्तु वेदान्त का मत है कि व्यवहार जगत भी पूर्णतया तात्त्विक नहीं है। जिस प्रकार जागने पर स्वप्न के पदार्थों का बाध हो जाता है और शुक्ति तथा रज्जु का ज्ञान होने पर शुक्ति रजत एवं रज्जु-सर्प नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार ब्रह्म—साक्षात्कार अथवा आत्म दर्शन होने पर इस दृश्यमान व्यावहारिक जगत का भी बाध हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म या आत्मा ही तात्त्विक है और केवल आत्मज्ञान ही यथार्थ-ज्ञान या प्रमा है। किन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार होने से पहिले शुक्ति को रजत एवं रज्जु को सर्प समझना भ्रान्तज्ञान या अप्रमा है और उन्हें शुक्ति और रज्जु जानना यथार्थ ज्ञान या प्रमा है।

वेदान्त का उपर्युक्त मत प्लेटो के मत से मिलता-जुलता है। अबाधित पदार्थ किसे कहना चाहिए? अन्तिम विश्लेषण में वेदान्त के अनुसार अबाधित अथवा तात्त्विक पदार्थ वह है जिस का कभी नाश नहीं होता। एक मात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है, ब्रह्म के अतिरिक्त सारे पदार्थ नाशवान हैं। ब्रह्म का ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। प्लेटो भी लगभग यही कहता है। उस के जातिप्रत्यय स्थिर और अविनश्वर हैं। प्लेटो और वेदान्त दोनों के अनुसार जो परिवर्तनशील है वह अध्रुव या विनाशी है। प्लेटो की सम्मति में यथार्थ ज्ञान तभी सम्भव है जब विश्व में कुछ स्थिर और अविनाशी पदार्थ पाये जायं। यथार्थ ज्ञान की सम्भावना के लिए जाति प्रत्ययों के जगत की कल्पना आवश्यक है। "रिपब्लिक" में प्लेटो कहता है कि दार्शनिक का काम रात दिन जाति-प्रत्ययों के चिन्तन में लगा रहना है। प्लेटो ने यह भी कल्पना की थी कि विविध जाति प्रत्यय एक श्रेयस्-प्रत्यय में ऐक्य लाभ करते हैं। वस्तुतः प्लेटो के दर्शन में श्रेयस्-प्रत्यय का वही स्थान है जो वेदन्त में ब्रह्म का और श्रेयस्-प्रत्यय तथा ब्रह्म का ज्ञान ही प्लेटो और वेदान्त के अनुसार यथार्थ ज्ञान है!

संगतिवाद—आधुनिक योरुपीय दर्शन में प्लेटो के प्रमा सम्बन्धी मत को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। हीगल के अध्यात्मवाद ने सत्यज्ञान या प्रमा के सम्बन्ध में एक नूतन मन्तव्य को जन्म दिया जिसे सङ्गतिवाद (Coherence Theory) कहते हैं। इस वाद के अनुसार उस ज्ञान या ज्ञान-व्यञ्जक वाक्य को सत्य कहना चाहिए जो एक समष्टि (System) का अङ्ग बन सकता है। व्यक्तिगतरूप में किसी वाक्य को सत्य नहीं कहा जा सकता।* ब्रेडले कहता है कि प्रत्येक वाक्य (Judgment) अंशतः सत्य होता है और अंशतः मिथ्या। पूर्ण सत्य किसी एक वाक्य या अनुभव में नहीं पाया जा सकता। पूर्ण सत्य की वाहक केवल वह वाक्य-समष्टि (System of Judgments) हो सकती है जो अपनी शब्दात्मक परिधि में अशेष विश्व को अपना विषय बना लेती है। पूर्ण सत्य उसी सत्य को कहा जा सकता है जिसका विषय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। बाकी सारे सत्य एकाङ्गी और अपूर्ण हैं। विश्व ब्रह्माण्ड स्वयं एक समष्टि (System) है और उसको विषय बनाने वाले सत्यवाक्य भी एक समष्टि का रूप धारण कर लेंगे। जैसे-जैसे मानवता के ज्ञान में प्रगति होती जाती है, वैसे वैसे इस सत्य-समष्टि के कलेवर में भी वृद्धि होती है। पूर्ण सत्य अथवा वास्तविक प्रमा आंशिक सत्यों या सत्य प्रतिज्ञाओं की वह समष्टि होगी जो विश्व समष्टि को उसकी समग्रता में अभिव्यक्त करेगी।※ ऐसी समष्टि ही मानव चिन्तन का आदर्श है। ब्रेडले कभी-

*** इसके विपरीत मत, यह कि अलग-अलग वाक्य सत्य या मिथ्या होते हैं, दार्शनिक अनेकवाद पर अवलम्बित होगा। अनेकवाद** (Pluralism) **के अनुसार विश्व की वास्तविकताएं असम्बद्ध और अनेक हैं।**

तु० की० The absolute view of perfect truth and of sheer error rests on the idea that seperate facts and truths are self-contained and possess independent reality. (Bradley, Essays on truth and Reality, पृ० २६५)

※ If our goal is in the end to gain Reality in an

कभी यह भी कहता है कि पूर्ण सत्य तभी पूर्ण होगा जब वह केवल सत्य न रहकर विश्वतत्त्व से एकीभूत हो जायगा।*

भारतवर्ष में सङ्गतिवाद का ऊपर के रूप में विकास नहीं हुआ। योरुपीय सङ्गतिवाद का हीगल के अध्यात्मवाद से गहरा सम्बन्ध है। हीगल विश्वतत्त्व को परस्पर-सम्बद्ध तत्त्वों की समष्टि-रूप मानता है। इस समष्टि का विवरण देने वाला सत्य भी समष्टि रूप होगा। हीगल के अनुसार इस सत्य का वाहक पूर्णप्रत्यय (Absolute Idea) है, जो विभिन्न धारणाओं या प्रत्ययों की समष्टि है—पूर्णप्रत्यय में समस्त प्रत्ययों या धारणाओं का सत्य निहित है। सङ्गतिवाद की प्रेरणा हीगल के दर्शन से मिलती है, किन्तु वह केवल हीगल के मत की आवृत्ति नहीं है। सङ्गतिवाद को, यथार्थ ज्ञान-सम्बन्धी वाद के रूप में, हीगल के दर्शन से अलग भी किया जा सकता है। भौतिक विज्ञान में विभिन्न तथ्य (विभिन्न तथ्यों के वाहक वाक्य) एक दूसरे से सम्बद्ध, एक दूसरे से आश्रित, एवं एक दूसरे पर अवलम्बित होते हैं। विभिन्न वैज्ञानिक तथ्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, और वैज्ञानिकों की यह सदैव चेष्टा रहती है कि वे परस्पर निरपेक्ष प्रतीत होने वाली सचाइयों को घने सम्बन्ध-सूत्रों में बाँध दें। इस प्रकार भौतिक विज्ञान अपनी प्रगति में अधिकाधिक एक समञ्जस समष्टि (Coherent system) का रूप धारण करता जा रहा है। कुछ विचारकों की सम्मति में 'सत्य समष्टिरूप है' इसका सबसे बड़ा निदर्शन भौतिक विज्ञान है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद†—प्रो० ईविंग की सम्मति में

ideal form, to possess ourselves of a self-contained individual whole.—Bradley, Essays, पृ० ३२६

* Hence truth ......in order to perfect itself, it would have to become Reality. वही पृ० ३४३-४४

† **स्याद्वाद और संगतिवाद दोनों एक निष्कर्ष पर यह कि प्रत्येक कथन सत्य भी होता है और मिथ्या भी—पहुँचते हुए भी एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। हमारे तुलनात्मक दर्शन सम्बन्धी इस मन्तव्य की, कि**

सङ्गतिवाद का मुख्य तत्त्व यही है कि प्रत्येक वाक्य (Judgment) या कथन अंशतः सत्य और अंशतः मिथ्या होता है। इस अंश में सङ्गतिवाद जैनियों के अनेकान्तवाद से समता रखता प्रतीत होता है। किन्तु यह समानता बहुत गहरी नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार तत्त्व पदार्थ एक नहीं अनेक हैं; वह न वेदान्त के ब्रह्म के समान एक रस एक तत्त्व है और न हीगल के परब्रह्म की भांति समष्टिरूप एकता है। जैन दर्शन अनेकवादी है। इसके अतिरिक्त जैन-दर्शन मानता है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त-धर्मात्मक है। जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की मूलभित्ति यह अन्तिम सिद्धान्त है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं, इसलिए उसका वर्णन किसी एक वाक्य या अनेक वाक्यों में भी परिसमाप्त नहीं हो सकता। प्रत्येक ऐसा वर्णन वस्तु के एक अंश या एक अङ्ग को ही स्पर्श करता है। वस्तु के एकाङ्गी वर्णन को उसका पूर्ण वर्णन समझ लेना भ्रान्ति है। आंशिक या एकाङ्गी ज्ञान की जैन-दर्शन में 'नय' सज्ञा है। इस प्रकार के ज्ञान के व्यञ्जक वाक्य भी 'नय' कहलाते हैं। व्यावहारिक जीवन में जब हम किसी वस्तु के बारे में कुछ कथन करते हैं तो वह कथन किसी खास दृष्टिकोण से ही उस वस्तु को लागू होता है। प्रत्येक कथन या वाक्य एक विशिष्ट दृष्टिकोण से ही सत्य होता है; दूसरे दृष्टिकोणों से वह मिथ्या भी हो सकता है। एक ही पदार्थ घट स्वयं घट के दृष्टिकोण से, स्वयं अपनी अपेक्षा से, सत् कहा जा सकता है, किन्तु वही दूसरे पदार्थों की अपेक्षा से, पट की अपेक्षा से, असत् है। जैन-तर्कशास्त्र के अनुसार हमारी प्रत्येक उक्ति या कथन विशिष्ट दृष्टिकोण या अपेक्षा से ही सत्य होता है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक कथन की सत्यता आपेक्षिक है, प्रत्येक कथन कुछ विशिष्ट दशाओं (Conditions) की अपेक्षा से ही सच्चा होता है। स्याद्वाद का सिद्धान्त इस तथ्य को प्रकट करने की चेष्टा करता है।

कोई वाक्य या कथन पूर्ण सत्य नहीं है, इस लिए जैन विचारकों की

उसमें मात्र निष्कर्षों पर ध्यान नहीं रहना चाहिए, सत्य का अच्छा निदर्शन है।

सम्मति है कि प्रत्येक वाक्य को 'स्यात्' (कदाचित) से विशेषित कर देना चाहिये। 'घट है' यह कथन भ्रामक हो सकता है; 'घट है' यह पूर्ण या निरपेक्ष सत्य नहीं है, वह सब दशाओं में सत्य नहीं है। क्योंकि उक्त कथन अपेक्षा-विशेष से ही सत्य है, इसलिये ठीक वाक्य इस प्रकार होगा—स्यादस्ति घटः, कदाचित् घट है। इसी प्रकार घट का असद्भाव या अभाव कथन करते समय भी स्यात् या कदाचित् जोड़ना चाहिये। * आशय यही है कि प्रत्येक कथन आपेक्षिक सत्य को प्रकट करता है। जैन तर्कशास्त्र के अनुसार इस प्रकार के कथन सात तरह के (सप्तभंगी) हो सकते हैं। अपेक्षा—विशेष से घट है, अपेक्षा विशेष से घट नहीं है; अपेक्षाभाव को छोड़ देने पर घट को न सत् कहा जा सकता है, न असत्—वह अवक्तव्य है। अस्ति, नास्ति और अवक्तव्यता के विभिन्न योगों से सात भंगों या भंगियो की सृष्टि होती है।

सङ्गतिवाद और स्याद्वाद दोनों के अनुसार हमारा प्रत्येक कथन एकाङ्गी या अपूर्ण है। किन्तु इस एकाङ्गिता की व्याख्या दोनों में समान नहीं है। सङ्गतिवाद के अनुसार मानव ज्ञान सतत पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहा है। ज्ञान की अपूर्णता का कारण विश्व-तत्त्व के विभिन्न अनन्त अंशों का असंख्य सम्बन्धों से सम्बद्ध होना है। इन सम्बन्धों का ज्ञान क्रमशः समष्टिरूप में बढ़ता रहता है। इसके विपरीत जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपना अलग व्यक्तित्व रखते हुए अनन्त धर्मात्मक होने के कारण (यह धर्म पदार्थ में एक बार दिये हुए नहीं हैं, बल्कि उत्तरोत्तर नये धर्म उत्पन्न होते रहते हैं) दुर्ज्ञेय है। यहां याद रखना चाहिये कि सङ्गतिवाद और अनेकान्तवाद दोनों ही न तो सन्देहवाद हैं, और न अज्ञेयवाद। दोनों पूर्ण ज्ञान की सम्भावना को मानते हैं। किन्तु मानवी साधनों से यह पूर्ण ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है,

* दे० दासगुप्त, ए हिस्टरी ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग १, (१९२२), पृ० १७९ और चटर्जी और दत्त, An Introduction to Indian Philosophy, pp. 92—94.

यह जैन-दर्शन में बिल्कुल स्पष्ट नहीं है, और सङ्गतिवाद में भी यह सम्भावना सम्भावनामात्र ही है।

तुलनात्मक समीक्षा

एक दृष्टि से अनेकान्तवाद सङ्गतिवाद की अपेक्षा कम सन्तोषजनक है। विभिन्न दृष्टिकोणों अथवा विभिन्न अपेक्षाओं से किये गये एक पदार्थ के विभिन्न वर्णनों में सामञ्जस्य या किसी प्रकार की एकता कैसे स्थापित की जाय, यह जैन-दर्शन नहीं बतलाता। प्रत्येक सत् पदार्थ में ध्रुवता या स्थिरता रहती है, और प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद और व्यय वाला अर्थात परिवर्त्तनशील है, इन दो तथ्यों पर जैन-दर्शन अलग-अलग और समान गौरव देता है। क्या इन दोनों सत्यों को किसी प्रकार एक करके, एक समञ्जस रूप में नहीं देखा जा सकता? तत्त्व-मीमांसा (Ontology) में ही नहीं सत्य-मीमांसा (Theory of Truth) में भी जैन-दर्शन अनेकवादी है। विशिष्ट सत्य एक सामान्य सत्य के अंश या अङ्ग नहीं हैं; परमाणुओं की भाति उनका भी अलग-अलग अस्तित्त्व है। सत्य एक नहीं अनेक हैं। यहीं पर सङ्गतिवाद और अनेकान्तवाद में भेद है। अनेक-सत्यवादी होने के कारण ही जैन-दर्शन **सापेक्ष सत्यों से निरपेक्ष सत्य तक पहुँचने का रास्ता** नहीं बता पाता। वह यह मानता प्रतीत होता है कि पूर्ण सत्य अपूर्ण सत्यों का **योग** मात्र है, उनकी समष्टि (System) नहीं। एक प्राचीन जैन श्लोक कहता है—

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टाः॥

अर्थात् जिसने एक पदार्थ को सर्वथा, पूर्णतया अर्थात् सब दृष्टिकोणों से जान लिया है, मानना चाहिये कि उसने सब पदार्थों को अच्छी तरह जान लिया है। जिसने सब पदार्थों को पूर्णतया जान लिया, मानना चाहिये कि वही किसी एक पदार्थ को पूर्णतया जानता है। इस पद्य को 'स्याद्वाद-मञ्जरी' के टीकाकार हेमचन्द्र ने उद्धृत किया है।* यदि वास्तव

* पृ० ११२ (बम्बई संस्करण); गुणरत्न ने भी उक्त पद्य को उद्धृत

में अनेकान्तवाद का यही अर्थ है, तो वह पश्चिमी सङ्गतिवाद से किसी प्रकार भिन्न नहीं है। किन्तु वास्तव में श्लोकोक्त सिद्धान्त का निर्वाह अद्वैतवादी तत्त्व-मीमांसा (Monistic Ontology) के साथ ही हो सकता है। हीगल की भांति विश्व-तत्त्व को एक समञ्जस समष्टि मानने पर ही यह कहा जा सकता है कि उस समष्टि को पूर्णतया जाने बिना उसके किसी एक तत्त्व का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता, और विश्व-समष्टि के किसी एक तत्त्व को पूर्णतया जानने का अर्थ स्वयं विश्व-समष्टि को जानना है। भौतिक विज्ञान को एक वर्धिष्णु समष्टि (Growing System) कहने का अर्थ यह है कि भौतिक जगत, जिसका भौतिक विज्ञान में विवरण रहता है, एक समञ्जस समष्टि (Coherent System) है और उसके विभिन्न अंशों के संचालन-नियम परस्पर सम्बद्ध अर्थात् एक ही महानियम के अंशभूत हैं। भौतिक विज्ञान ऐसे ही व्यापक नियम की खोज में है। भौतिक विज्ञान की उन्नति इसी में है कि वह क्रमशः छोटे-छोटे अथवा कम व्यापक नियमों-उपनियमों को अधिक व्यापक नियमों का परिणाम (Corollary) प्रदर्शित कर सके।

उपयोगितावाद (Pragmatism)

वस्तु-सम्वादिता और सङ्गतिवाद के अतिरिक्त आधुनिक योरुपीय दर्शन में सत्य की एक तीसरी परिभाषा भी काफी प्रसिद्ध रही है। सत्य वह है जो व्यवहार में उपयोगी हो, जिसको मानकर चलने से व्यावहारिक सफलता हो, इस सिद्धांत को उपयोगितावाद (Pragmatism) कहते हैं। उपयोगितावादियों का विश्वास है कि प्रत्येक सत्य को व्यावहारिक कसौटी पर कसा जा सकता है। 'जितनी वास्तविकताएँ हैं वे हमारे व्यवहार को प्रभावित करती हैं।' 'हमारे विश्वास वास्तव में कर्म करने या व्यापार-विशेषों को अनुष्ठित करने के नियम हैं'* इस लिए किसी

किया है। दे० हिरियन्ना, Outlines of Indian Philosophy. p.171 fn.

* 'All realities influence our practice' और our beliefs are really rules for action.'—Pragmatism (1907), pp. 48, 46

विश्वास की सत्यता इसमें है कि उसके अनुसार काम करने से सफलता मिले। जिस तथ्य को मानने न मानने से हमारे व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह वास्तव में हमारे लिए सत्य या मिथ्या नहीं है। प्रत्येक सिद्धान्त के बारे में हमें यह पूछना चाहिए कि इसको मानने या न मानने से क्या व्यावहारिक भेद होगा। जिस सत्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता, जिसका मानना न मानना हमारे व्यवहार को प्रभावित नहीं कर सकता, वह सत्य, हमारे दृष्टिकोण से, निरर्थक है।

विलियम जेम्स आदि उपयोगितावादियों के अनुसार व्यावहारिक सफलता सत्य को परखने का ढंग ही नहीं, सत्य का स्वरूप भी है। सत्य की सत्यता इसमें है कि वह हमें व्यावहारिक क्षेत्र में सफल प्रतिक्रियाएं करने में सहायता दे। 'व्यावहारिक सफलता' की धारणा भारतीय दार्शनिकों को अज्ञात न थी। नैयायिकों एवं जैन-दर्शन के अनुसार भी सत्यज्ञान सफल-ज्ञान है। किन्तु उक्त दोनों दर्शनों के अनुसार व्यावहारिक सफलता से सत्य को **पहचाना** मात्र जाता है; व्यावहारिक सफलता सत्य की सत्यता का कारण नहीं है। सत्य का स्वरूप तो वस्तुसम्वादिता ही है, किन्तु उसकी परख (Criterion) व्यावहारिक सफलता है। इस प्रकार उक्त दर्शनों के सिद्धान्त में वस्तुसम्वादितावाद और उपयोगितावाद का समन्वय हो जाता है।

परतः प्रामाण्य

ऊपर के मत में किसी ज्ञान या अनुभवखण्ड की सत्यता की परख उस ज्ञान या अनुभव के **बाहर** होती है। दार्शनिक परिभाषा में ऊपर का सिद्धान्त परतः प्रामाण्यवादी है। भारतवर्ष में मीमांसा और वेदांत-दर्शनों में इस मन्तव्य का तीव्र खण्डन किया गया है। बाद के दोनों सम्प्रदाय स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। योरुपीय-दर्शन में स्वतः और परतः प्रामाण्यवाद का विरोध अधिक स्पष्टरूप में पल्लवित नहीं हुआ। फिर भी सङ्गतिवाद के प्रचारकों को स्वतः प्रामाण्यवादी कहना चाहिये। वर्नार्ड वोसांक्वेट ने ज्ञान की परख की आंतरिकता (Immanence) पर जोर दिया है।* ज्ञान

* दे० Logic, Vol. II, pp. 290, 291 (Second Edition)

की परख ज्ञान के बाहर नहीं हो सकती। योरुपीय दर्शन में यथार्थज्ञान को वस्तुसम्वादी लक्षित करने वाले विचारक यह बताना मुश्किल पाते हैं कि स्वयं वस्तु-सम्वादिता का ज्ञान या निश्चय किस प्रकार हो। इस निश्चय के लिए यह आवश्यक है कि (१) ज्ञान विशेष हमारी दृष्टि के सामने हो; (२) वह पदार्थ जिसका यह ज्ञान है, ज्ञान से निरपेक्ष हमारे सामने हो; (३) और हम ज्ञान और पदार्थ दोनों की तुलना करके यह जान सकें कि उनमें सम्वादिता है। किन्तु ज्ञान के बाहर हमें पदार्थ का परिचय नहीं हो सकता, पदार्थ हम तक ज्ञान के माध्यम में ही आता है। इस लिए हम दोनों की तुलना नहीं कर सकते। इस कठिनाई से बचने के लिए पूर्वी और पश्चिमी विचारक भी यह कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान का स्वरूप वस्तुसम्वादिता भले ही हो, उसकी परख व्यावहारिक सफलता को मानना चाहिए। कतिपय योरुपीय विचारकों के मत में 'संगति' (Coherence) द्वारा भी प्रमा के प्रमात्व की परीक्षा की जा सकती है।

स्वतः प्रमाणवादियों का कहना है कि जब ज्ञान विशेष उत्पन्न होता या आता है, तो वह अपने साथ ही अपने प्रामाण्य का निश्चय भी लाता है। स्वतः प्रामाण्यवाद का मुख्य तर्क इस प्रकार है। आप एक ज्ञान की परख उसकी व्यावहारिक सफलता से करना चाहते हैं। किन्तु किसी ज्ञान से व्यावहारिक सफलता होती है, यह निश्चय भी एक प्रकार का ज्ञान है और उसकी परीक्षा के लिए एक तीसरा ज्ञान चाहिए। इस प्रकार अनवस्था दोष आता है। इस लिए, व्यर्थ के कल्पना-गौरव से बचने के लिए यह मानना चाहिए कि प्रत्येक ज्ञानखण्ड स्वतःप्रमाण होता है। कतिपय नैयायिक उत्तर में कहते हैं कि व्यावहारिक सफलता अर्थात् फलभूत तृप्ति आदि के ज्ञान को स्वतः प्रमाण मान लेना चाहिए, किन्तु दूसरे ज्ञानों की सत्यता का कारण तृप्ति ज्ञान को मानना चाहिए। किन्तु इतना मानने का अर्थ स्वतः प्रामाण्यवाद को स्वीकार कर लेना है।*

* अथ मतं...फलभूततृप्त्यादिज्ञानानान्तु स्वत एव तदवगमः, अर्थ क्रियान्तराभावात्, तदसत् विमतं साधनज्ञानं स्वत एवं प्रमाणं ज्ञानत्वात्, फलज्ञानवत्। (वि. प्र. सं., पृष्ठ १०१)

तुलनात्मक दृष्टि

संगतिवाद का स्वतः प्रामाण्य भारतीय स्वतः प्रामाण्यवाद से भिन्न है। संगतिवाद के अनुसार प्रत्येक अकेला ज्ञान-खण्ड स्वतः प्रमाण नहीं होता, प्रामाण्य ज्ञान समष्टि का धर्म है। किसी ज्ञान-या कथन-समष्टि (System of Judgments) के तत्त्वों में जितनी ही अधिक संगति या सामञ्जस्य होगा, वह उतनी ही पूर्ण सत्य के समीप होगी; और कथन-विशेष या ज्ञान-विशेष की सत्यता इस पर निर्भर है कि वह एक ज्ञान-समष्टि का अङ्गभूत बन सके। ज्ञान-विशेष या कथनविशेष को उस अनुपात में सत्य मानना चाहिए जिस अनुपात में उसका सन्निवेश कर लेने वाली समष्टि व्यापक और समञ्जस है।* इसके विपरीत भारतीय स्वतः प्रामाण्य प्रत्येक ज्ञान-खण्ड को अपने अकेलेपन में प्रमाण मानता है।

ऊपर हमने सम्वित्-शास्त्र या ज्ञान'मीमांसा की कतिपय महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर पूर्वी और पश्चिमी विचारों का तुलनात्मक विवरण देने की चेष्टा की है। ज्ञान की सम्भावना, ज्ञान के प्रत्यक्षादि साधन, ज्ञान का स्वरूप, प्रमा का स्वरूप और उसकी परीक्षा—यही संक्षेप में सम्वित्-शास्त्र की समस्याएँ हैं। इस शास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण समस्या और है, अर्थात् ज्ञान और ज्ञान के विषय के सम्बन्ध का निरूपण। इस समस्या पर हम 'अध्यात्मवाद' के अध्याय में लिखेंगे।

* दे० Bosanquet, Logic, Vol. 2, p. 283.

संगतिवाद को मीमांसा का अनवस्था दोष स्वीकार होगा, क्योंकि वह मानता है कि हमारा कोई ज्ञान या कथन पूर्णतया सत्य नहीं है। जिस ज्ञान-समष्टि पर ज्ञान-विशेष की सत्यता निर्भर है, वह स्वयं पूर्ण-सत्यता का दावा नहीं कर सकती।

: ३ :

विश्व की व्याख्या—यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद

पहले अध्याय में हम देख चुके हैं कि योरुपीय-दर्शन का प्रधान उद्देश्य विश्व की व्याख्या करना है। हमने यह भी देखा कि उपनिषदों में, और सामान्यतः भारतीय-दर्शन में, समय-समय पर दर्शन का उद्देश्य आत्मज्ञान और विश्व की व्याख्या दोनों ही दर्शित किये गये हैं। उपनिषदों में आत्मज्ञान की महत्ता पर जोर दिया गया है, साथ ही दृश्य जगत् की व्याख्या का प्रयत्न भी किया गया है। वेदान्त में दर्शन के पहले उद्देश्य पर गौरव दिया गया है, जब कि अन्य दर्शनों में दूसरा उद्देश्य प्रधान दिखाई पड़ता है।

प्रो० ह्वाइटहेड ने यह विचार प्रकट किया है कि जहां योरुपीय मस्तिष्क ईश्वर एवं जगत् को नियमपरायण (Rational) समझने का अभ्यस्त है, वहां एशिया के विचारक ईश्वर को निरङ्कुश एवं जगत् को नियमहीन कल्पित करते हैं। उनका ख़याल है कि निरङ्कुश या स्वेच्छाचारी ईश्वर नामक शासक के राज्य में उसकी इच्छा से कुछ भी घटित हो सकता है।* पता नहीं उक्त प्रोफेसर ने किस आधार पर इस प्रकार की धारणा बनाई है। जैसा कि हम निम्न पृष्ठों में देखेंगे, विश्व के नियमित और ईश्वरेच्छा के नियन्त्रित होने की धारणा भारतीय दर्शन में बहुत प्राचीन काल से चली आती है। यही नहीं, भारत के अनेक दर्शनों ने ईश्वर की अपेक्षा के बिना विश्व-विकास की व्याख्या देने का प्रयत्न किया है। भारतीय विचारकों पर अवैज्ञानिक होने का आरोप या तो पक्षपात का फल हो सकता है या अज्ञान का। यहां पाठकों को याद रखना चाहिये कि

* दे० Whitehead, Science and the Modern World, (Pelican Books), पृ० २४।

भारतीय साहित्य तथा अन्य बौद्धिक विभूतियों के अपेक्षाकृत कम आदृत होने तथा मिथ्या आरोपों द्वारा लाञ्छित किये जाने का एक महत्त्वपूर्ण कारण हमारे देश की राजनैतिक पराधीनता रही है।

इस अध्याय में हम विश्व की व्याख्या देने के कतिपय प्रसिद्ध भारतीय और योरुपीय प्रयत्नों पर निष्पक्ष दृष्टि डालने की चेष्टा करेंगे। जैसा कि हमने कहा, उपनिषद्साहित्य में जगह-जगह विश्व की व्याख्या का प्रयत्न है। उपनिषदों से पहले ऋग्वेद में ऋत की धारणा पाई जाती है जिसके अनुसार भौतिक और नैतिक दोनों क्षेत्रों में नियमों का साम्राज्य है। अवश्य ही ऋग्वेद में इस नियमबद्धता का कारण या कर्तृत्व देवता-विशेष—वरुण-में आरोपित किया गया है। उपनिषदों के बाद बुद्धदेव ने 'प्रतीत्य समुत्पाद' का प्रतिपादन करके इस बात पर जोर दिया कि विश्व की प्रत्येक घटना सकारण होती है। बुद्ध जी की इस महत्त्वपूर्ण धारणा पर हम आगे टीका करेंगे।

विश्व की समुचित व्याख्या के लिए दो कार्यों का सम्पादन आवश्यक है;—(१) यह कि अनुभव जगत् के समग्र तत्त्वों पर दृष्टिपात किया जाय, और उन तत्त्वों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाय। (२) वर्गीकृत पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं रूपपरिवर्त्तनों का विवरण अथवा व्याख्या दी जाय। वास्तव में स्वयं वर्गीकरण एक प्रकार की व्याख्या है, और ऐसे शास्त्रों में जिनका विषय अपेक्षाकृत स्थिर व्यक्तियाँ हैं, जैसे वनस्पति-विज्ञान, वर्गीकरण ही व्याख्या का चरमरूप रहता है। अन्य शास्त्रों में भी वर्गीकरण व्याख्या का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग, उसकी पहली सीढ़ी है। यह आश्चर्य की बात है कि यूनान और भारतवर्ष दोनों जगह, विश्व की व्याख्या के प्रथम प्रयत्न वर्गीकरण-रूप में प्रकट नहीं हुए। दोनों ही जगह के दार्शनिकों ने पहले-पहल विश्व की विभिन्नताओं को अधूरे रूप में देखकर उनके चरम हेतु का स्वरूप समझाने की चेष्टा की। किन्तु कुछ काल बाद दोनों ही जगह एकवाद का स्थान अनेकवाद लेने लगा और विश्व के विभिन्न तत्त्वों के वर्गीकरण की चेष्टा की जाने लगी।

प्रो० दासगुप्त का विचार है कि वैशेषिक सूत्रों को जिनमें विश्व के पदार्थों के वर्गीकरण का सब से महत्त्वपूर्ण भारतीय प्रयत्न निहित है, प्राग्बुद्धीय (बुद्धजी से पहले का) मानना चाहिए।* इसमें सन्देह नहीं कि वैशेषिक सूत्र बहुत प्राचीन हैं। सर राधाकृष्णन् की सम्मति में उन्हें ब्रह्मसूत्रों का समकालीन मानना चाहिए। यद्यपि सांख्य दर्शन के सिद्धान्त कुछ अंशों में उपनिषदों एवं महाभारत में पाये जाते हैं, फिर भी सांख्य-कारिका के विकसित सांख्य दर्शन को वैशेषिक की अपेक्षा बाद का मानना उचित प्रतीत होता है। दार्शनिक प्रौढ़ता की दृष्टि से भी वैशेषिक के सिद्धान्तों को सांख्य से प्राचीन मानना युक्तिसंगत है।

वैशेषिक कृत विश्व-व्याख्या

वैशेषिककार की दृष्टि सम्पूर्ण अर्थ में दार्शनिक दृष्टि है, उसकी सर्वव्यापी परिधि से विश्व का कोई पदार्थ बाहर नहीं रह जाता। वैशेषिक के छः या सात पदार्थों में विश्व ब्रह्माण्ड के अशेष तत्त्वों का समावेश हो जाता है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, विशेष और अभाव इन सात श्रेणियों में विश्व की समूची भौतिक और आध्यात्मिक, मूर्त्त और अमूर्त्त, दृश्य और अदृश्य, बाह्य और आन्तर व्यक्तियों का अन्त-र्भाव और परिगणन कर दिया गया है। इन सात श्रेणियों के बाहर कहीं कुछ नहीं है। वैशेषिककार के मन में कोई शङ्का, कोई दुविधा या सन्देह नहीं है; वे न संशयवादी हैं न अज्ञेयवादी। विश्व में जो कुछ है वह सब ज्ञेय है, कुछ भी रहस्यमय या अज्ञात नहीं है।

वैशेषिक दर्शन में मानव बुद्धि उत्साह और आवेश से भरी हुई स्वच्छन्द संचरित होती है; उसे अपनी शक्ति में पूर्ण विश्वास है। बड़े वैज्ञानिक और क्रमबद्धरूप में वैशेषिककार ने विभिन्न पदार्थों और उनके उपविभागों के लक्षण किये हैं। अनुभव हमारे सामने विभिन्नता उपस्थित करता है, और वैशेषिककार अनेकवादी हैं। प्रश्न यह है कि विश्व के विभिन्न तत्त्व एक-दूसरे से सम्बद्ध किस प्रकार होते हैं, और एक-दूसरे

* वही, पृ० २८२

पर क्रिया-प्रतिक्रिया किस प्रकार करते हैं ? वैशेषिक दर्शन पदार्थों की भांति उनके सम्बन्धों की भी अलग सत्ता मान लेता है । संयोग-सम्बन्ध एक गुण है, और समवाय-सम्बन्ध एक अलग पदार्थ है । यही नहीं, वैशेषिककार अनेक व्यक्तियों में पाई जाने वाली जातिगत एकता को भी एक अलग पदार्थ मान लेते हैं। जाति पदार्थ एक नहीं, अनेक हैं; जितनी जातियां दिखाई देती हैं, उतने ही 'सामान्य' पदार्थ हैं । इससे भी आगे बढ़कर प्रत्येक पदार्थ को व्यक्तित्व देने एवं दूसरे पदार्थों से भिन्न रखने के लिए वैशेषिककार ने अनन्त विशेषों की कल्पना कर डाली है। परस्पर-सम्बद्ध होते हुए भी सम्बन्धी पदार्थ अपने व्यक्तित्वों को एक-दूसरे में खो नहीं देते, इस पर वैशेषिककार ने विशेष गौरव दिया है । वस्तुतः उनकी रुचि जितनी पदार्थों को श्रेणी-बद्ध करने में है, उतनी विभिन्न श्रेणियों के सम्बन्ध-निरूपण में नहीं । सम्बन्धों का अलग अस्तित्व स्वीकार कर लेना इस बात का द्योतक है कि वैशेषिककार सामान्य बुद्धि (Common sense) से रंचमात्र भी दूर नहीं हटना चाहते ।

गुण और गुणी द्रव्य, गति और गतिवान्, सामान्य और विशेष में वैशेषिक दर्शन जाति भेद मानता है। यह ठीक है कि गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, अवयव और अवयवी कभी एक-दूसरे से अलग नहीं होते, उन में अपृथक् सिद्धि या अयुतसिद्धिसम्बन्ध* हैं, फिर भी वे एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं और उन्हें जो सम्बद्ध करता है] वह समवाय-सम्बन्ध उन से भिन्न एक तीसरा पदार्थ है । वैशेषिक का यह भेदवाद युक्ति या परीक्षा के आगे नहीं ठहरता। यदि गुण और गुणी को उनसे भिन्न समवाय संबंध जोड़ता है तो स्वयं समवाय सम्बन्ध को गुण और गुणी से कौन जोड़ता है ? क्या इस जोड़ने के लिए एक दूसरे समवाय-सम्बन्ध की कल्पना करनी चाहिये ? शङ्कराचार्य की वैशेषिक के विरुद्ध

* वे दो पदार्थ जो कभी एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते, जो सदैव सम्बद्ध होने के कारण एक दीखते हैं, अयुतसिद्ध कहलाते हैं। इस प्रकार की अयुतसिद्धि समवाय द्वारा घटित होती है ।

प्रयुक्त की गई इस युक्ति का अंग्रेज दार्शनिक ब्रेडले ने सम्बन्धमात्र के खण्डन में प्रयोग किया है। शङ्कर की युक्ति भी सम्बन्ध मात्र के विरुद्ध कही जा सकती है, क्योंकि नैयायिक केवल दो ही सम्बन्ध मानते हैं, संयोग और समवाय, और शङ्कर ने दोनों का ही खण्डन किया है।

शङ्कर के मत में गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय तथा संयोग को द्रव्यात्मक मानना चाहिये, क्योंकि उन में भेद की प्रतीति नहीं होती। यदि गुण (आदि) द्रव्य से अत्यन्त भिन्न हों, तो उन्हें द्रव्य के अधीन क्यों होना चाहिये ? द्रव्य के होने पर ही गुणों का भाव होता है और द्रव्य के अभाव में उनका अभाव होता है, इस लिए यह मानना चाहिये कि गुण द्रव्य का ही रूप-विशेष या संस्थानविशेष होता है। जैसे एक ही देवदत्त अपनी तथा सम्बन्धियों की अपेक्षा से मनुष्य, ब्राह्मण, पिता, पुत्र, भाई, जामाता आदि अनेक नामवाला बन जाता है, जैसे एक ही अङ्क या रेखा स्थान भेद से एक, दस, सहस्र आदि नामों से पुकारी जाती है, वैसे ही एक ही द्रव्य, या दो सम्बद्ध-द्रव्य, गुण, समवाय, संयोग आदि संज्ञाओं के भाजन बन जाते हैं।* वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि गुण आदि के सद्भाव में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है, और प्रत्यक्ष गुण-गुणी आदि को एकात्मक (तादात्म्य वाले) प्रदर्शित करता है। †

वैशेषिक के विरुद्ध शङ्कराचार्य ने और भी युक्तियां दी हैं। वस्तुतः उन का भेदवाद का खण्डन बहुत ही ओजस्वी और पूर्ण है। उन की आलोचना पढ़कर सहज ही मस्तिष्क में यह भाव उठता है—वैशेषिक का पदार्थ-विभाग तो सचमुच ही नितान्त अयौक्तिक है। योरुप के अध्यात्म-वादियों ने भी भेदवाद की आलोचना की है। किन्तु वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करके वे एक दूसरे ही परिणाम पर पहुंचे, सम्बद्ध-

* ब्रह्मसूत्र भाष्य, २। २। १७

† गुणादि सद्भावे तद्भेदे च प्रत्यक्षानुभवादन्यस्य प्रमाणस्या भावा-दस्य च भ्रान्तत्वे सर्वाभावा प्रसंगात। पृ० ४४५

पदार्थ निरंश या निरवयव-रूप में एक (Simple Unity) न हो कर एक समष्टि के अंशभूत हैं। वैशेषिक जिसे समवाय-सम्बन्ध कहता है उसे योरुप के आधुनिक अध्यात्मवादियों ने अन्तरङ्ग-सम्बन्ध (Internal Relation) नाम दिया है। यही नहीं, उन के मत में सब प्रकार के सम्बन्ध अन्तरङ्ग-सम्बन्ध हैं। इस धारणा का विकसितरूप विश्व-तत्त्व की समष्टिरूप में कल्पना है। खेद है कि शङ्कर की प्रखर आलोचना ने भारतवर्ष में हीगल और ग्रीन, ब्रेडले आदि के समरूप 'समष्टि-ब्रह्मवाद' को उत्थित होने से रोका। भारतीय भेदाभेदवाद कुछ-कुछ उक्त पश्चिमी दर्शन से समानता रखता था, पर वह भी यहां ठीक से नहीं पनप सका।

परमाणुवाद—अभीतक हमने वैशेषिक के वर्गीकरण की ओर विशेष ध्यान दिया, उसके द्वारा प्रस्तुत किये गये विश्व के स्थित्यात्मक विश्लेषण (Static Analysis) पर विचार किया। किन्तु वैशेषिक दर्शन का एक दूसरा पहलू भी है जिसका सम्बन्ध विश्व के परिवर्त्तनीय रूपों से है। वैशेषिक परमाणुवाद गतिशील विश्व के मात्र भौतिक अंश की व्याख्या का प्रयत्न है, वह प्राचीन भारत का भोतिकशास्त्र (Physics) है। वैशेषिक परमाणुवाद हमारी इस बात की पुष्टि करता है कि इस दर्शन की प्रवृत्ति मुख्यतः विश्व की व्याख्या करने में थी। न्याय-वैशेषिक का समूचा साहित्य इस बात का साक्षी है। इन दर्शनों के व्याख्याता 'पीलुपाक' और 'पिठरपाक' * जैसे प्रश्नो पर उतनी ही गंभीरता से विचार करते हैं जितनी

* दो परमाणुओं के मिलने से द्वयणुक बनता है, तीन द्वयणुकों से एक त्र्यणुक; इस प्रकार पिण्ड पदार्थ उद्भूत होते हैं। अग्नि के प्रभाव से पिण्डों के गुण बदल जाते हैं—कच्चा घड़ा पक जाता है और उस का रंग बदल जाता है। वैशेषिक (पीलुपाक) के अनुसार पहले घड़ा परमाणुओं में विशीर्ण हो जाता है, फिर परमाणुओं का रंग आदि बदलता है, और घड़ा पुनः संगठित होता है। न्याय का मत दूसरा है। उसके अनुसार तेज-प्रमाणु घड़े में प्रवेश करके उसका वर्ण-परिवर्तन कर देते हैं। घड़े का प्रमाणुओं में विशीर्ण होना और फिर बनना अनुभव-सिद्ध नहीं है। यह मत पिठरपाक कहलाता है।

कि आत्मा या ईश्वर के अस्तित्व पर। 'न्याय मञ्जरी' में चार्वाक-धूर्त की भर्त्सना करते हुये जयन्तभट्ट कहता है:—चार्वाकधूर्त्तस्तु अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञाय प्रमाण प्रमेय संख्यालक्षणनियमाशक्य करणीयत्वमेव व्याख्यातवान्,* अर्थात् 'अब हम तत्त्व की व्याख्या करेंगे' इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त चार्वाक केवल यही सिद्ध करके सन्तुष्ट हो गया कि प्रमाण, प्रमेय आदि की संख्या और लक्षण-विषयक नियम करना सम्भव नहीं है।

वैशेषिक दर्शन विस्तार से यह बताने की चेष्टा करता है कि किस प्रकार मूल परमाणुओं के संयोग से क्रमशः दीखने योग्य विभिन्न परिमाणों वाले पदार्थों की सृष्टि होती है। यही नहीं, वह यह भी बताने का प्रयत्न करता है कि कारणभूत परमाणुओं और कार्यरूप मूर्त्तपिण्डों के गुणों आदि में किस प्रकार का सम्बन्ध रहता है, और नये गुणों का किस प्रकार आविर्भाव होता है। परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म और न दीखने योग्य हैं, फिर उनसे दृश्य-कार्य कैसे उत्पन्न होता है? परिमण्डल परिमाण से ह्रस्व और दीर्घ परिमाण कैसे उत्पन्न होते हैं? वैशेषिक का उत्तर है कि बड़े परिमाणों का कारण संयुक्त होने वाले परमाणुओं की द्वित्व आदि संख्या है, स्वयं परमाणु नहीं। यह आलोचना इस बात का निदर्शन है कि उक्त दर्शन की विश्व-व्याख्या में वास्तविक अभिरुचि है।

वैशेषिक सूत्र में हम पढ़ते हैं, 'कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है' (कारणाभावात्कार्याभावः), 'सत् और कारणहीन पदार्थ को नित्य कहते हैं', एवं 'उत्पत्ति से पहले कार्य असत् होता है।' इतने प्राचीन सूत्रों में इतनी वैज्ञानिक परिभाषाएँ देख कर सचमुच ही सूत्रकार की प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। वैशेषिक का कारणता-सम्बन्धी सिद्धान्त आरम्भवाद या असत्कार्यवाद कहलाता है। उक्त दर्शन के अनुसार नूतनताओं का आविर्भाव एक वास्तविकता है। वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की दृष्टि से यह सिद्धांत सदोष है। भगवद्गीता भी घोषणा करती है कि

* पाज़िटिव साइन्सेज़, पृ० २५२

असत् का कभी भाव नहीं होता (नासतो विद्यते भावः), किन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि वैशेषिक का आरम्भवाद परिवर्त्तन और उत्पत्ति की पूर्ण व्याख्या न होते हुए भी अनुभव-विरुद्ध नहीं है। वर्त्तमानकाल में ह्वाइटहेड जैसे मनीषियों ने विज्ञान की गौण-गुणों (Secondary Qualities) को उड़ा देने की प्रवृत्ति की तीव्र आलोचना की है।* अति आधुनिक एस. एलेग्जेण्डर और लॉयड मार्गन का नव्योत्क्रातिवाद (Emergent Evolution), वैशेषिक आरम्भवाद का ही नवीन संस्करण कहा जा सकता है। असत्कार्यवाद के घोर आलोचक वेदान्तियों का विवर्त्तवाद भी किसी-न-किसी रूप में नूतनताओं के आविर्भाव को स्वीकार करता है, यद्यपि वेदान्त के अनुसार यह नूतनताएँ अनिर्वाच्य हैं। फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां का सृजनात्मक विकासवाद (Creative Evolution) तो आरम्भवाद का सब से अतिरंजितरूप है।❀

जैसा कि हमने इंगित किया आरम्भवाद उत्पत्ति और परिवर्त्तन की अपूर्ण व्याख्या है। शाङ्करभाष्य में असत्कार्यवाद का तीव्र खण्डन किया गया है, किन्तु यहां हम शङ्कर के आक्षेपों का विवरण नहीं देंगे। देखने की बात यह है कि आरम्भवाद या असत्कार्यवाद यह बताने में नितान्त असमर्थ है कि कारण-विशेष से किसी विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति क्यों होती है। तिलों से ही तैल निकलता है, बालू से नहीं, इसका क्या कारण है? कारणता का यह सिद्धान्त सृष्टि-क्रिया या विश्व-विकास की गतिमयता की

* We forget how strained and paradoxical is the view of nature which modern science imposes on our thoughts. (Science and the Modern world, p. 103).

❀ **इस सम्बन्ध में बर्गसाँ के कला-संबन्धी विचार दर्शनीय हैं। संक्षेप में, बर्गसां कलात्मक अनुभूति को नितान्त** Individual **अर्थात् निराले रूपवाली, जिसका अन्य अनुभूतियों से जातिगत साम्य नहीं है, मानता है। दे० उनकी पुस्तक,** An Essay on Laughter **अन्तिम भाग।**

कोई सङ्गत व्याख्या नहीं देता। यहां पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि वैशेषिक परमाणुवाद केवल अनित्य जगत् के परिवर्त्तनों की व्याख्या का प्रयत्न है। वैशेषिक दर्शन के अनेक नित्य पदार्थों का परिवर्त्तन से कोई सम्बन्ध नहीं है। वैशेषिक के मत में कार्य और कारण में समवाय-सम्बन्ध होता है, किन्तु नैयायिक इसे नहीं मानते। एक कार्य के अनेक कारण हो सकते हैं, इसलिए कार्य और किसी विशिष्ट कारण में नित्य सम्बन्ध नहीं है। यह मन्तव्य भी इस बात का द्योतक है कि वैशेषिक के कारण कार्यों को उत्पन्न करने में किसी आन्तरिक आवश्यकता (Inner Necessity) के अधीन नहीं हैं। वैशेषिक दर्शन कर्म या गति को परमाणुओं से अलग पदार्थ मानता है, यह भी ऊपर की प्रवृत्ति का ही निदर्शन है। यही बात जैन-परमाणुवाद के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वहां भी गति या धर्मास्तिकाय अलग पदार्थ माना गया है, यद्यपि उमास्वामि ने परमाणुओं के संयोग का कारण संयुक्त होने वाले परमाणुओं के गुणवैषम्य को बतलाया है।* वास्तव में गति-तत्त्व को परमाणुओं से अलग कर देने पर उनमें भौतिक-जगत् को उत्पन्न करने की क्षमता स्थापित करना नितान्त कठिन है। इसीलिए वैशेषिक दर्शन को गति और परमाणुओं के अतिरिक्त अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ी है। परमाणुओं के द्वयणुक आदि रूपों में सङ्गठित होने का कारण अदृष्ट है। श्रीधर कहते हैं—अदृष्टकारिता सर्वभावानां सृष्टिः, अर्थात् सब भाव पदार्थों की सृष्टि का हेतु अदृष्ट है।※ अदृष्ट के बदले ईश्वर को यह काम सौंपने पर जड़-जगत् की स्वतन्त्रता और निरपेक्षता व्यर्थ ही सीमित हो जाती है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन को न यन्त्रवादी कहा जा सकता है, न प्रयोजनवादी; विश्व-सृष्टि का रहस्य न पीछे आने वाले कारणों में है, और न किसी भविष्य में फलीभूत होने वाले प्रयोजन में। वस्तुतः वैशेषिक दर्शन का सामान्य दृष्टिकोण स्थिर (Static) है,

* दे० पौज़िटिव साइन्सेज़, पृ० ९६-९८

※ वही, पृ० १००

वह विश्व की परिवर्त्तन-शीलता से अधिक प्रभावित नहीं दिखाई देता।* वैशेषिक दर्शन को जड़वादी कहते हुए अधिक संकोच नहीं होना चाहिए; न केवल इसलिए कि उसने आत्म-तत्त्व को पृथिव्यादि भूतों के साथ एक श्रेणी में बांध कर वर्णित कर दिया है, बल्कि इसलिए भी कि वह चैतन्य को आत्मा का प्रधान या नित्य गुण नहीं मानता। वास्तव में वैशेषिक ने जड और चेतन के प्रभेद को समझाने का कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं किया। भारतीय दर्शनों में उपनिषदों के आत्मवाद से सब से कम प्रभावित दर्शन वैशेषिक दर्शन है।

सांख्य दर्शन

विश्व-प्रक्रिया को अपने में पूर्ण या निरपेक्ष (Autonomous) रूप में कल्पित करने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयत्न सांख्य दर्शन ने किया है। वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि से सांख्य दर्शन विश्व-प्रक्रिया की सर्वश्रेष्ठ भारतीय व्याख्या है। वैशेषिक के सात पदार्थों, नव द्रव्यों, चौबीस गुणों आदि के बदले सांख्य दर्शन केवल एक मौलिक-तत्त्व की कल्पना करता है, त्रिगुण-मयी प्रकृति। सांख्य दर्शन का दूसरा तत्त्व पुरुष है सही, किन्तु वह विश्व-प्रक्रिया के विकास में कोई महत्त्वपूर्ण पार्ट नहीं खेलता। पुरुष असङ्ग है, वह न वास्तविक भोक्ता है न कर्त्ता; जिन्हें हम जीवन या चेतन के व्यापार कहते हैं वे भी बहुत अंश तक प्रकृति के ही कार्य या परिणाम हैं। पुरुष की सन्निधि मात्र से प्रकृति चेतन की भांति प्रवृत्त होने लगती है; वह देखती है, सुनती है, सोचती है, विचारती है, सुखी होती है और दुःख महसूस करती है। भ्रम या अविवेक से यह सब क्रियाएँ पुरुष में आरोपित हो जाती हैं। यह मिथ्यारोपण ही पुरुष का बन्धन है।

वैशेषिक की भांति सांख्य गति-तत्त्व को मूलद्रव्य से भिन्न कल्पित नहीं करता। त्रिगुणमयी प्रकृति का रजस्-गुण स्वभावतः ही चल या गतिमय है, उसकी उपस्थिति के कारण प्रकृति निरन्तर परिणमित या परिवर्त्तित

* आरंभवाद 'परिवर्तन' एवं 'नूतनता के आविर्भाव' को स्वीकार करता है, पर उसकी कोई युक्तिपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता।

होती रहती है (प्रकृतिर्हि परिणमनशीला क्षणमप्यपरिणम्यनाव तिष्ठते—व्यासभाष्य)। प्रलयावस्था में प्रकृति निष्पंद या क्रियाहीन नहीं हो जाती, उस समय भी उसमें स्वजातीय परिणाम होता रहता है। * सृष्टि रचना विजातीय परिणाम का फल है। प्रकृति के तीन गुण वैशेषिक के 'निष्क्रिय' और 'निर्गुण' पदार्थ नहीं है। सांख्य को गुण-गुणी का भेद मान्य नहीं है, गुणों या द्रव्य के एक विशेष प्रकार से क्रियाशील होने को ही उसका गुण कहते हैं। † प्रकृति के तीन गुण तीन प्रकार की शक्तियाँ (Energies) हैं, विज्ञानभिक्षु के अनुसार सांख्य के यह गुण वैशेषिक द्रव्यतत्त्व से अधिक मिलते हैं। तीन गुण तीन भिन्न प्रकारों से क्रियाशील होते हैं। सतोगुण लघु, प्रकाश करने वाला और प्रीत्यात्मक है; रजोगुण चञ्चल, क्रिया में प्रवृत्त करने वाला और अप्रीत्यात्मक है; तमोगुण भारी, कर्म से रोकने वाला, आलस्योत्पादक और विषादात्मक है। तीन गुणों की *साम्यावस्था* प्रकृति है, गुणों की विषमता से प्रकृति में विकार या परिणाम होने लगता है और उससे इस विविध विश्व का विकास होता है।

सांख्य ने विकासप्रक्रिया को विस्तार से समझाने की कोशिश की है। विकास-प्रक्रिया में संसृष्ट (Integrated) भावों से विवक्त (Differentiated) भावों का उदय होता है, अविशिष्ट (Indeterminate) भावों से विशिष्ट (Determinate) भावों का, एवं युतसिद्ध अवयव-समूहों (Incoherent) से अयुतसिद्ध अवयव-समूहों (Coherent) का।‡ विकास का यह फार्मूला हर्बर्ट स्पेन्सर के दिये हुए विकास के लक्षण से आश्चर्यजनक समानता रखता है। स्पेन्सर के अनुसार भी 'विकास वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सरल (Simple), युतसिद्धावयवरूप (Incoherent)

* प्रतिक्षण परिणामिनो हि सर्व एव भावा ऋते चितिशक्तेः —सांख्यतत्त्व कौमुदी, ५

† दास गुप्त, वही, पृ० २४४

‡ दे० पाज़िटिव साइन्सेज़, पृ० ७-११; और दासगुप्त, वही, पृ० २४६

और संसृष्ट भाव, जटिल, अयुतसिद्धावयवरूप, विविक्त (Heterogeneous) भावों में परिणत होते हैं।'

सांख्य के विकास के सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथमतः यह कि सांख्य देश, काल आदि पदार्थों की अलग या स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता, यह सब प्रकृति के ही परिणाम हैं। वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की भांति सांख्य भी रूप, रस आदि गौण गुणों को परिमाणगत (Quantitative) परिवर्त्तनों का कार्य मानता है। * जातिगतभेदों की परिमाणगतभेदों से व्याख्या करने की यह प्रवृत्ति सर्वथा आधुनिक है। काल के बारे में व्यास-भाष्य का कथन है कि वह "बुद्धिनिर्माण" अर्थात् बुद्धि द्वारा निर्मित या कल्पित है; बुद्धि स्वभावतः वस्तुओं को कालिक ढांचे में ढाल कर देखती है। क्षण, मुहूर्त्त, रात, दिन आदि बुद्धि की कल्पनाएँ हैं; वे विकास-प्रक्रिया को देखने के विशिष्ट प्रकार या ढंग मात्र हैं, जबकि महाकाल की कल्पना निर्विषयक विकल्पमात्र है।❀ इसी प्रकार देश की धारणा को भी समझना चाहिये। यह सिद्धान्त काण्ट के आध्यात्मवाद से समानता रखता है।

सांख्य के विकासवाद में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण मन्तव्य यह है कि भौतिक जगत् की व्यक्तियाँ ही नहीं, मनोवैज्ञानिक या मानसिक-जगत् की व्यक्तियाँ भी प्रकृति का ही दूरवर्त्ती परिणाम हैं। प्रकृति से महत्तत्त्व या बुद्धि विकसित होती है, और बुद्धि से अहंकार। विकसित तत्त्वों के नाम ही इस बात के द्योतक हैं कि वे केवल भौतिक नहीं हैं। अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है, एक भूतसर्ग, और दूसरा प्रत्ययसर्ग; एक ओर तो पांच तन्मात्राओं और पंच-महाभूतों का विकास होता है, और दूसरी

* तन्मात्ररूपादेः किं कारणम् इति चेत् स्वकारणद्रव्याणां न्यूनाधिकभावेन अन्योन्यं प्रति संयोगविशेष एव।

—पाज़िटिव साइन्सेज़, पृ० २५

❀ योगदर्शन के अनुसार विकल्प उस धारणा को कहते हैं जिसका वस्तु जगत में कोई आधार नहीं होता, जो केवल शब्द-मात्र है। (शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः)।

और ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का। पर्वत, नदी, ग्रह, उपग्रह आदि ही नहीं, हमारे सुख, दुःख, विचार, भावनाएँ और मनोवेग भी सत्-रज-तममयी प्रकृति के ही विकार हैं। इस प्रकार विश्व के लगभग अशेष पदार्थों, मानसिक और अमानसिक या भौतिक तत्त्वों, का मूल एकमात्र प्रकृति है।

सांख्य का कारणता-सम्बन्धी सिद्धान्त सत्कार्यवाद कहलाता है। कार्य कारण का ही संस्थान-विशेष या रूप-विशेष है। उत्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है, और किसी भाव के उत्पन्न होने का अर्थ उसके अपने कारण में अन्तर्हित रूप का प्रकट हो जाना है। अपने बृहदारण्यक-भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य ने सत्कार्यवाद का बड़ा सुन्दर निरूपण किया है। वे लिखते हैं:—

सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत्पूर्वोत्पन्नस्य कार्यस्यतिरोधानं कुर्वत्कार्यान्तरमुत्पादयति। एकस्मिन् कारणे युगपदनेककार्यविरोधात् ……… प्राङ्मृदोऽभिव्यक्तेर्मृदाद्यवयवानां पिण्डादिकार्यान्तररूपेणसंस्थानं, तस्मात्प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्यैव घटादिकार्यस्यावृतत्वादनुपलब्धिः।*

भाव यह है कि उत्पत्ति से पहिले घट पिण्ड आदि अवयवों में अनभिव्यक्तरूप में वर्तमान होता है। उसकी अभिव्यक्ति को रोकने वाला अथवा उसका आवरण करने वाला मिट्टी का पिण्डादि दूसरा कार्य होता है। एक समय में कारण एक ही कार्य के रूप में दिखाई दे सकता है; उस समय उसके दूसरे कार्य अप्रकट रहते हैं। अभिप्राय यह है कि एक ही कारण सामग्री विभिन्न रूपों में संसृष्ट हो सकती है। यह सिद्धान्त वर्तमान विज्ञान के अनुकूल है। विज्ञान के अनुसार पुद्गल-शक्ति विभिन्न रूप धारण कर सकती है, किन्तु कुल मिलाकर उसका परिमाण अपरिवर्त्तित रहता है।

विकसित सांख्य से पहिले भगवान् बुद्ध ने अपने प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का प्रचार किया था। प्रतीत्यसमुत्पाद का सीधा अर्थ यही है कि

* बृह० उप० भाष्य, १।१।१

जो कुछ उत्पन्न होता है वह किसी कारण से, विश्व में कुछ भी अकारण घटित नहीं होता। विश्व-घटनाओं की व्याख्या उनके अतीत में ढूंढ़नी चाहिये। इस मन्तव्य में यन्त्रवाद (Mechanicalism) का बीज छिपा है। प्रत्येक घटना किसी कारण पर अवलम्बित होती है, यह सिद्धान्त वैशेषिक दर्शन को भी मान्य है, किन्तु वैशेषिक दर्शन कारण से कार्य का उत्पन्न होना आवश्यक नहीं समझता। बौद्ध दर्शन ने इस अन्तिम मन्तव्य को क्षणिकवाद के अतिरंजितरूप में अपनाकर विश्वप्रक्रिया की प्रवाहमयता पर ज़ोर दिया। यूनानी दार्शनक हेराक्लाइटस ने भी विश्व को प्रवाह रूप कथित किया, किन्तु वह बौद्ध दर्शन की भांति अपनी सम्मति को कार्यकारणभाव की धारणा से सम्बद्ध नहीं कर सका। बुद्धजी ने इतने प्राचीन-काल में कार्यकारणभाव की धारणा को इतने स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया, यह भारतीय दर्शन के लिये गौरव की बात है। सांख्य दर्शन यद्यपि बौद्ध-क्षणिकवाद को नहीं मानता, फिर भी वह प्रकृति की निरन्तर परिणमनशीलता को स्वीकार करता है। इसलिये सांख्य के विकास का आधार कारणभूत प्रकृति के गुणों की सततक्रियाशीलता को ही समझना चाहिये। इस दृष्टि से हम सांख्य की दी हुई विश्व की व्याख्या को यन्त्रवाद (Mechanical Explanation) कह सकते हैं। जैसा कि हमने ऊपर इंगित किया, सांख्य का यन्त्रवाद केवल भौतिक जगत् तक ही सीमित नहीं है, मानसिकभावों का कारण भी त्रिगुणमयी क्रियाशील प्रकृति ही है। गीता कहती है—प्रकृतेःक्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते, अर्थात् मनुष्य के सब व्यापार वस्तुतः प्रकृति के गुणों द्वारा ही अनुष्ठित होते हैं, अहंकार के वश होकर वह भूल से अपने को कर्त्ता मान लेता है। सांख्य को गीता का कथन सर्वांश में अभिमत है। इसका अर्थ यह हुआ कि चेतन के व्यापार वास्तव में प्रकृति के व्यापार हैं और वह उनके लिए वस्तुतः उत्तरदायी नहीं है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष वास्तव में न बंधता है और न मुक्त होता है।

संसार के सब पदार्थ त्रिगुणमय हैं, और वे सत्कार्यवाद के अखण्ड नियम के अनुसार अनवरत त्रिगुणमय कारणों से उत्पन्न हो रहे हैं। सांख्य किसी अपूर्व को नहीं मानता, वह किसी ईश्वर को भी नहीं मानता। विश्व-प्रक्रिया अपने में पूर्ण और निरपेक्ष है, और उसमें घटित होनेवाली प्रत्येक घटना का हेतु या कारण उसके अतीत में है। यह सब मान्यताएँ यन्त्रवाद की पोषक हैं। किन्तु सांख्य इतना ही कहकर संतुष्ट नहीं हो जाता। वह एक दूसरे तत्त्व पुरुष को मानता है और वह यह भी मानता है कि प्रकृति का विकास पुरुष को मुक्त करने के लिए होता है। विकास-प्रक्रिया सप्रयोजन है। सांख्य सृष्टि और प्रलय के सिद्धांत को स्वीकार करता है, इसलिए वह कठिनाई से बचने के लिए यह भी मान लेता है कि प्रारम्भ में प्रकृति की साम्यावस्था का भंग पुरुष की उपस्थिति के कारण होता है।

अन्य सम्प्रदायों ने सांख्य की इन कमज़ोर मान्यताओं का तीव्र खण्डन किया। पुरुष असंग है, फिर वह प्रकृति की साम्यावस्था को किस प्रकार भङ्ग कर सकता है? प्रकृति अचेतन है, वह पुरुष की मुक्ति के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकती है? दूसरे, अचेतन, पूर्वापर को समझने की शक्ति से शून्य, प्रकृति इस नाना रचना-युक्त, चेतन-प्राणियों के विभिन्न प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले नियमित जगत् की सृष्टि कैसे कर सकती है?*

किन्तु सांख्य की यह कठिनाइयां कृत्रिम हैं। वैशेषिक के विरुद्ध भी शङ्कराचार्य ने यह आक्षेप उठाया है कि परमाणुओं को द्व्यणुक आदि रूपों में संयुक्त करने के लिए चेतन कारण अपेक्षित है। वास्तव में सांख्य और वैशेषिक दोनों के लिए सृष्टि और प्रलय का सिद्धांत मानना दार्शनिक आवश्यकता नहीं है, इसलिए उक्त आक्षेप महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता। विश्व की 'रचना' चेतन कर्त्ता की अपेक्षा करती है, यह आक्षेप भी, विकास-सिद्धांत के प्रचार के बाद, महत्त्वपूर्ण नहीं है। सांख्य दर्शन

* दे० ब्रह्मसूत्र पर शां० भा०, २ । २ । १, २

का सबसे कमज़ोर अंश उसका प्रयोजनवाद है। 'जिस प्रकार बछड़े को शरीर-वृद्धि के लिए अचेतन दूध गाय के स्तनों से प्रस्रवित होने लगता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति अज्ञात भाव से पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।' यह दृष्टांत युक्ति का काम नहीं दे सकता और सांख्य के प्रयोजनवाद में विश्वास उत्पन्न करने में नितान्त असमर्थ है। वास्तव में सांख्य का प्रयोजनवाद उसके मोक्षवाद को स्वीकार कर लेने का परिणाम है, और वह सांख्य दर्शन का प्रधानतत्त्व नहीं मालूम पड़ता। यदि सांख्य पुरुष को सर्वथा निष्क्रिय न बना डालता, तो यह कहना सम्भव होता कि किसी प्रकार पुरुष विश्व-प्रक्रिया का अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए—अपना और प्रकृति का ज्ञान या विवेक सम्पादन करने के लिये—उपयोग कर डालता है।

साख्य पूरे हृदय से प्रयोजनवादी भले ही न हो, किन्तु वह जड़वादी नहीं है। पुरुष की सिद्धि के लिए साख्य ने अनेक युक्तियां दी हैं, उनमें से एक है, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च। मनुष्य में मोक्ष के लिए, पूर्ण या अनन्त-जीवन के लिए, तीव्र इच्छा पाई जाती है। यह इच्छा अचेतन प्रकृति और उसके विकारों में सम्भत नहीं है; आदर्श की खोज मानव व्यक्तित्व में प्राकृतिक तत्त्वों के अतिरिक्त किसी ऊँची सत्ता को इंगित करती है। यह सत्ता चिन्मय आत्मतत्त्व या पुरुष है। **यहां सांख्य यह मान लेता है कि अचेतन प्रकृति किसी ऊंचे उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त नहीं हो सकती**। पुरुष-तत्त्व को मानना आवश्यक है। किन्तु सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति में क्रियाप्रतिक्रिया नहीं मानता। स्पिनोज़ा की भांति वह जड़ और चेतन भाव-शृङ्खलाओं में समानान्तरभाव भी नहीं मानता। सांख्य का पुरुष परिवर्त्तनशील नहीं है। उसके प्रतिबिम्बमात्र से अन्तःकरण की जड़वृत्तियां जीवित और सचेतन दीखने लगती हैं। सांख्य दर्शन अपने आत्मवाद और प्रकृतिवाद में सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सका। उसका द्वैतवाद उसके प्रयोजनवाद को और भी दुर्बल बना देता है। किन्तु अनुभव पर दृष्टि रखते हुए सांख्य दर्शन पुरुष की सत्ता से इन्कार नहीं

कर सका, और न वह प्रकृति-जगत् की निरपेक्षता को ही अस्वीकार कर सका। जड़-जगत् और मानवकर्म-जगत् दोनों में सांख्य को अखण्ड नियमों का शासन दिखाई दिया, दोनों जगत् तीन गुणों के क्रीड़ा-स्थल प्रतीत हुए, और उसने नियतवाद (Determinism) को भी स्वीकार कर लिया।

भारत के अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में से प्रत्येक पर वैशेषिक या सांख्य दोनों में से एक का प्रभाव देखा जा सकता है। वैशेषिक के वर्गीकरण की प्रवृत्ति मीमांसा के दोनों स्कूलों, जैन दर्शन एवं रामानुज दर्शन में पाई जाती है, तथा वेदांत पर सांख्य की छाप स्पष्ट है। वेदांत यद्यपि सांख्य के विकास-क्रम को स्वीकार नहीं करता, फिर भी वह प्रकृति को मायारूप में स्वीकार कर लेता है। साथ ही साथ सांख्य की लिङ्ग-शरीर, अन्तःकरण और ज्ञान-प्रक्रिया की धारणाओं से वेदांत काफी प्रभावित हुआ है।

वेदान्त

पहले अध्याय में हमने कहा कि सृष्टि-विकास की व्याख्या में फँसना वेदांत को विशेष प्रिय नहीं है। उसका उद्देश्य मुख्यतः आत्मा के स्वरूप का निर्णय करना है। इसलिए वेदांत दर्शन आत्मा और ब्रह्म तथा ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध समझाने की ही विशेष चेष्टा करता है। ब्रह्म और आत्मा एक हैं, तथा ब्रह्म विश्व का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, वेदांत की यही दो मुख्य मान्यताएँ हैं। ब्रह्म के जगत्कारणत्व पर गौरव देना आवश्यक है, क्योंकि अन्यथा केवल ब्रह्म पर्याप्त न होगा और श्रुति की यह प्रतिज्ञा कि एक को जानने से सबका ज्ञान हो जाता है, झूठी हो जायगी।

अनिर्वचनीय का अर्थ

यहाँ वेदांत के विश्व-प्रक्रिया-सम्बन्धी सिद्धांत के बारे में हम एक भ्रम का निवारण कर देना उचित समझते हैं। यह प्रसिद्ध है कि वेदांत विश्व-जगत् को अनिर्वचनीय घोषित करता है। अनिर्वचनीयता का क्या अर्थ है?

प्रसिद्ध वेदांती श्रीहर्ष ने अपने 'खण्डनखण्डखाद्य' में अनिर्वचनीय की संदेहवादी या अज्ञेयवादी (Sceptical) व्याख्या देने की चेष्टा की है। श्रीहर्षका कथन है कि प्रमाण, प्रमेय आदि न्याय-वैशेषिक के किसी पदार्थ की बुद्धिसंगत व्याख्या नहीं को जा सकती। विश्व के सब पदार्थ अनिर्वच-नीय अर्थात् अव्याख्येय हैं। श्रीहर्ष के मत में अनिर्वचनीय पदार्थ वह है जिसका निर्वचन अर्थात् लक्षण या परिभाषा न हो सके। विश्व के अशेष पदार्थ इस अर्थ में अनिर्वाच्य हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों की ठीक-ठीक परिभाषा या व्याख्या सम्भव नहीं है। जब स्वयं प्रमाणों का यह हाल है तो फिर अपने ज्ञान के लिए प्रमाणों पर निर्भर करने वाले अन्य पदार्थों का तो कहना ही क्या? इस प्रकार श्रीहर्ष विश्व-प्रपञ्च को अज्ञेय या अव्याख्येय घोषित कर देता है।

श्रीहर्ष की तर्क-पद्धति पर बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का बहुत प्रभाव पड़ा था। स्वयं श्रीहर्ष ने इसको स्वीकार किया है। उसने एक जगह लिखा है कि वेदांत और माध्यमिक के शून्यवाद में केवल यही अन्तर है कि जहाँ माध्यमिक अशेष विश्व को अनिर्वाच्य मानता है वहां वेदांत ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व का अपवाद कर देता है; केवल आत्मतत्त्व ही अनिर्वाच्य नहीं है।

यहां प्रश्न उठता है, क्या वेदांत के प्रवर्त्तक शंकराचार्य भी विश्व-प्रपञ्च को श्रीहर्ष के अर्थ में अनिर्वाच्य कथित करते हैं? हमारे विचार में इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होना चाहिए। अपने भाष्य में प्रमाण, प्रमेय आदि के व्यवहार को न मानने वाले माध्यमिक की शङ्कराचार्य ने तीव्र भर्त्सना की है, यहां तक कि वे माध्यमिक को इस योग्य भी नहीं समझते कि उससे तर्क या विवाद किया जाय—'शून्यवादिपक्षस्तु सर्वं प्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते। न ह्ययं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्त्व-मनधिगम्य शक्य-ते ऽपह्नोतु मपवादाभाव उत्सर्गप्रसिद्धेः'—* अर्थात् शून्यवादी माध्यमिक का मत सब प्रमाणों के विरुद्ध है, इसलिए उस का खण्डन करके उस

* वे० शां भा० २।२।३१

का आदर नहीं करते। सब प्रमाणों से सिद्ध लोक व्यवहार का अपह्नव अर्थात् निषेध नहीं किया जा सकता, इत्यादि। शङ्कराचार्य, जैसा कि इस अवतरण से स्पष्ट है, प्रमाणों को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखते। माध्यमिक के प्रति उनका अनादरभाव और श्रीहर्ष का यह स्वीकार करना कि माध्यमिक दर्शन और वेदान्त दर्शन विशेष भिन्न नहीं हैं, इन दोनों में सङ्गति नहीं बैठती। इससे स्पष्ट यही परिणाम निकलता है कि श्रीहर्ष ने शङ्कराचार्य के सिद्धान्त को ठीक-ठीक नहीं समझा है। वास्तव में जब शंकर विश्व को अनिर्वचनीय कहते हैं, तो उनका यह अभिप्राय नहीं है कि विश्व-प्रक्रिया अव्याख्येय या अज्ञेय अथवा बुद्धिविरोधिनी (Self-contradictory) है, जैसा कि माध्यमिक नागार्जुन और अंग्रेज दार्शनिक ब्रेडले का मत है। वास्तव में शङ्कर का अनिर्वचनीय एक भावात्मक धारणा है, जिसका उद्देश्य विश्व-प्रपञ्च की व्याख्या करना है, उसे अव्याख्येय घोषित करना नहीं। नागार्जुन, ब्रेडले और श्रीहर्ष तीनों के अनुसार विश्वप्रपञ्च अव्याख्येय (Inexplicable) अर्थात् अज्ञेय है; किन्तु शङ्कराचार्य विश्व को नियमित, नियन्त्रित और ज्ञेय बतलाते हैं। नागार्जुन विश्व के पदार्थों को निःस्वभाव कथित करता है, ब्रेडले सब पदार्थों को विरोधग्रस्त या बुद्धिविरोधी घोषित करता है; शङ्कर को विश्व के सम्बन्ध में यह दोनों ही मत ग्राह्य नहीं होंगे। यह निम्न लिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगाः—

(अ) अस्य जगतो·········नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य·········प्रति नियत देशकाल निमित्त क्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचना रूपस्य इत्यादि (ब्र० शां० भा० १ । २ । २)

(आ) तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्म फलोपभोग्यं···प्रतिनियतावयव विन्यासमनेक कर्मफलानुभवाधिष्ठानं·····(वही, २।२।१)

(इ) तत एव निःसृतं नियमेन चेष्टते·········नियमेन क्षणमप्य विश्रातं वर्त्तते (कठभाष्य ६ । २)

(ई) सर्वपदार्थानां नियतनिमित्तोपादानात् (बृह० उप० भा० १।४।१०)

(उ) यद्धर्मको यः पदार्थः प्रमाणेनावगतो भवति स देशकालान्तरेष्वपि तद्धर्मक एव भवति, सचेत् तद्धर्मकत्वं व्यभिचरति सर्वः प्रमाणभावो लुप्येत (वही, २ । १ । २०)

(ऊ) न चाविद्या केवला वैषम्यस्य कारणम् एकरूपत्वात् (शां०-भा० २ । १ । ३६)

(ए) विदितन्नाम यद् विदिक्रिययातिशयेनाप्तं विदिक्रियाकर्मभूतं, क्वचित्किञ्चित्कस्यचिद् विदितं स्यादिति सर्वं व्याकृतं विदितमेव (केन-भाष्य १ । ४)*

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि शङ्कराचार्य विश्वप्रपञ्च को एक नियमित समष्टि समझते हैं जिसका एक निश्चित स्वरूप है और जिसे जाना जा सकता है। वे यह भी मानते हैं कि विश्व के ज्ञान प्राप्त करने का साधन प्रमाण हैं। शङ्कर की इस प्रकार की उक्तियों के रहते हुए उनकी माध्यमिक से तुलना करना अथवा उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहना उचित नहीं। वास्तव में शङ्कराचार्य अनुभवविरोधी-तर्क अथवा कुतर्क के तीव्र आलोचक हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि शङ्कर तर्क को अप्रतिष्ठित मानते हैं। बृहदारण्यकभाष्य में वे एक जगह कहते हैं:—तार्किकैस्तु परित्यक्तागमबलैः अस्तिनास्तिकर्त्ताऽकर्त्तेति विरुद्धं बहुतर्कयद्भिराकुलीकृतः

* अ—नामरूप से व्याकृत जगत् के......देश काल-कारण आदि के नियम निश्चित हैं, वह क्रियाफलों का आश्रय है...इत्यादि।

आ—जगत् के अवयव नियत रूप वाले हैं......।

इ—ब्रह्म से निःसृत जगत् अजस्र नियमानुकूल चेष्टा करता है।

ई—पदार्थों के निमित्त और उपादान कारण निश्चित या नियत हैं।

उ—प्रमाणों से पदार्थ जैसा प्रकट होता है, वैसा ही होता है। इसे न मानने से प्रमाणभाव लुप्त हो जायगा।

ऊ—अविद्या एकरूप है; वह वैषम्य का कारण नहीं बन सकती।

ए—विदित का अर्थ है ज्ञान-क्रिया का कर्म होने वाला; संसार में सब कुछ किसी न किसी को ज्ञात या विदित है।

शास्त्रार्थः (१। ४। १०), अर्थात् 'है' 'नहीं है', 'कर्त्ता-अकर्त्ता' आदि की तर्कनाएँ करने वाले तार्किक लोग श्रुति के अर्थ को असमञ्जस में डाल देते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अपनी विस्तृत ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों की टीकाओं में शङ्कराचार्य ने नागार्जुन-ब्रेडले-श्रीहर्ष के ढंग के युक्तिवाद का कहीं आश्रय नहीं लिया है, न उनके भाष्यों में मण्डन मिश्र की "ब्रह्मसिद्धि" की भांति 'भेद' का तर्कनात्मक (Diatectical) खण्डन ही किया गया है। निष्कर्ष यह है कि शङ्कर के मत में विश्व अनिर्वाच्य है, अव्याख्येय या अज्ञेय नहीं। अनिर्वाच्य शब्द का प्रयोग विश्व की व्याख्या करने का प्रयत्न है। 'जो सत् और असत् दोनों से भिन्न है वह अनिर्वचनीय है'। विज्ञानवाद का खण्डन करते हुये शङ्करने स्पष्ट कहा है कि जगत् स्वप्न के समान नहीं है। विश्वप्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता है और उसके मिथ्यात्व का भाव तभी हो सकता है जब आत्मसाक्षात्कार हो जाय। उससे पहले जगत् को मिथ्या कहने का कोई कारण नहीं है।*

योरुपीय दर्शन

हम निर्देश कर चुके हैं कि योरुपीय दर्शन की प्रवृत्ति मुख्यतः विश्व की व्याख्या की ओर रही है। ऐसी दशा में यह अनिवार्य था कि योरुप में भारतवर्ष की अपेक्षा विश्व-प्रक्रिया की अधिक-संख्यक व्याख्याएँ प्रस्तुत

* स्वप्न के पदार्थों का मिथ्यात्व भी स्वतः नहीं है, अपितु जागृत काल के पदार्थों की अपेक्षा से है (जागृत बोधापेक्षन्तु तदनृतत्वं न स्वतः—छा० शां० भा० ८। ५। ४) विश्व-प्रक्रिया के बारे में शंकर कहते हैं:—सर्व व्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वो पपत्तेः। स्वप्न व्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्व प्रतिपत्तिस्तावत् प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतबुद्धि र्न कस्य चिदुत्पद्यते। इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि शंकर प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि उसकी अव्याख्येयता पर निर्भर नहीं करते। वस्तुतः उनके अनुसार जगत् अव्याख्येय, या निःस्वभाव, या विरोध-ग्रस्त नहीं है।

हों। पुनर्जागृति (Renaissance) के बाद योरुप में धीरे-धीरे वैज्ञानिक अन्वेषण का उदय हुआ, इस घटना ने भी योरुपीय मस्तिष्क की उपर्युक्त प्रवृत्ति को पुष्ट और प्रोत्साहित किया। आधुनिक योरुपीय दर्शन पर वैज्ञानिक प्रगति और चिन्तन की स्पष्ट छाप है।

डिमोक्राइटस का परमाणुवाद

योरुपीय दर्शन में विश्व की व्याख्या करने का पहला उल्लेखनीय प्रयत्न डिमोक्राइटस (या ल्यूकीकस) का परमाणुवाद है। जैन दर्शन की भाति डिमोक्राइटस मौलिक परमाणुओं को एक ही प्रकार का मानता है। इस दृष्टि से यूनानी परमाणुवाद वैशेषिक परमाणुवाद से श्रेष्ठ है। रूप, रस, स्पर्श आदि धर्म मूल परमाणुओं के धर्म नहीं है; सांख्य की भाति यहां भी वे परिमाणगत भेदों के विकार हैं। डिमोक्राइटस के अनुसार आकाश या शून्य तथा परमाणुपुञ्ज, यही दो मूलतत्व हैं। आत्मा की सत्ता है, किन्तु आत्मा भी परमाणु-विशेषों का ही संघात है। आत्मा का प्रतिक्षण क्षय होता रहता है, और प्रतिक्षण सांस लेकर वह नये परमाणुओं से अपनी क्षति को पूरा करता है। आत्मा को बनाने वाले परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म और गोलाकार होते हैं। अन्य पदार्थों के कारणभूत परमाणु दूसरे आकारों एवं परिमाणों के होते हैं—सब परमाणु एक ही आकार या परिमाण के नहीं हैं। डिमोक्राइटस बुद्धिवादी था; इन्द्रिय-ज्ञान विश्वासनीय नहीं है। बाह्य पदार्थ इन्द्रियों के मार्ग से अपनी तसवीरें भेजते हैं, जो आत्मा को प्रभावित करके 'प्रत्यक्ष-' ज्ञान उत्पन्न करती हैं। यह तसवीरें रास्ते में विकृत हो जाती हैं। इसीलिये प्रत्यक्षानुभव विश्वसनीय नहीं है।

डिमोक्राइटस की वैज्ञानिकता सराहनीय है। यूनानी दर्शन को उसकी मुख्य देन अवकाश या शून्य (Void) की स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में कल्पना है। किन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि वैशेषिककार की तुलना में डिमोक्राइटस की दृष्टि संकुचित या कम व्यापक है, वह सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव जैसे सूक्ष्म तत्त्वों और सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं देख

पाती। वैशेषिककार ने सामान्य और विशेष को 'बुद्ध्यपेक्ष' अर्थात् बुद्धि-मूलक या बुद्धिकल्पित कथन किया है, यह भी उनकी सूक्ष्मदर्शिता का द्योतक है। वैशेषिककार को जड़ और चेतन के प्रभेद का भी स्पष्ट आभास है, जो डिमोक्राइटस के दर्शन में नहीं पाया जाता।

वस्तुतः यूनानी दर्शन का गौरव डिमोक्राइटस का परमाणुवाद नहीं, अपितु प्लेटो और अरस्तू की प्रौढ़ दर्शन-पद्धतियां हैं। इन मनीषियों के चिन्तन में दार्शनिक दृष्टि पूर्ण विकास और व्यापकता को प्राप्त कर लेती है। प्लेटों और अरस्तू ने बाद के योरुपीय दर्शन को जितना प्रभावित किया है, उसका ठीक अनुमान करना कठिन है। जिस प्रकार महाभारत के सम्बन्ध में कहा गया है 'जो यहां नहीं है वह कहीं नहीं है', उसी प्रकार एक दार्शनिक प्रवाद है कि प्रत्येक विचारक या तो प्लेटो का या अरस्तू का, ज्ञात या अज्ञातभाव से, अनुयायी होता है। इन तत्त्ववेत्ताओं के दर्शनों को हमें विशेष अवधान और सहानुभूति से समझने की चेष्टा करनी चाहिये।

प्लेटो का जातिप्रत्ययवाद

प्लेटो के जातिप्रत्ययवाद (Theory of Ideas) को समझने की चेष्टा का आरम्भ उसे ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि से सम्बद्ध करने से होना चाहिये। प्लेटो का एक प्रधान उद्देश्य प्रोटेगोरस आदि संदेहवादियों को उचित उत्तर देना था। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रोटेगोरस के संशय-वाद या अपेक्षावाद से बचने के लिए प्लेटो ने बुद्धिवाद का आश्रय लिया। इन्द्रियजन्य ज्ञान निश्चित और निरपेक्ष नहीं है, सोफिस्ट लोगों का सन्देह और अपेक्षावाद वास्तव में इन्द्रिय-ज्ञान को लागू होते हैं। बौद्धिक ज्ञान इन न्यूनताओं से ऊपर है। ज्ञान दो प्रकार का है, एक आपेक्षिक, या अनिश्चयात्मक, जिसे प्लेटो 'सम्मति' मात्र कहता है, और दूसरा वैज्ञानिक तथा निश्चयात्मक। पहले प्रकार का ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है और दूसरे प्रकार के ज्ञान का स्रोत बुद्धि है।

दो प्रकार के ज्ञानों के अनुकूल या अनुरूप ही दो प्रकार के जगत् हैं। इन्द्रिय-ज्ञान का विषय दीखने वाला अतात्त्विक या व्यावहारिक जगत्

है, एवं बौद्धिक ज्ञान का विषय तात्त्विक जगत् है। यह तात्त्विक जगत् जाति-प्रत्ययों (Universals) का जगत् है जिसकी यह दृश्यमान जगत् छाया या नकल है। अपनी जातिप्रत्ययों की धारणा द्वारा प्लेटो यूनानी दर्शन की 'एक और अनेक' की समस्या का समाधान पा जाता है। अनेक विशेषों में पाई जाने वाली एकता का क्या रहस्य है, अथवा एक और अनेक में क्या सम्बन्ध है, इसके उत्तर मे प्लेटो का कहना है कि वस्तुओं की अनेकता विशेषात्मक है और उनकी एकता सामान्यात्मक। वैशेषिक की भांति प्लेटो भी मानता है कि सामान्यों या जाति प्रत्ययों की विशेषों से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है—'अश्वत्व' केवल बुद्धि की एक धारणा नहीं है, उसका अश्वों से अलग स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसी प्रकार विशिष्ट गायों से भिन्न गोत्व का अस्तित्व है। विशिष्ट सुन्दर पदार्थों से भिन्न सौन्दर्य नामक जाति प्रत्यय या सामान्य तत्त्व है; इसी प्रकार न्याय, सत्य आदि सामान्य प्रत्यय भी हैं।

यहां प्रश्न यह उठता है कि जाति-प्रत्ययों के जगत् और दृश्य जगत् में क्या सम्बन्ध है। इसका उत्तर देते समय प्लेटो बरबस रूपकमयी भाषा का आश्रय लेने लगता है। कहीं तो वह कहता है कि दृश्य जगत् प्रत्यय जगत् की छाया या प्रतिलिपि (Copy) है, और कहीं यह कि दृश्य पदार्थ सामान्य प्रत्ययों के अंशभाक् (अंशभोगी, Participant) हैं। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि प्लेटो के जातिप्रत्यय दृश्य जगत् के सारभूत (Essences) हैं, और उनका ज्ञान ही यथार्थज्ञान है।

ऊपर का विवरण विश्व-प्रक्रिया का स्थित्यात्मक विश्लेषण जान पड़ता है। जातिप्रत्ययवाद का यह पहलू विश्व की प्रगति और परिवर्त्तनों की कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। वस्तुतः प्लेटो के जाति प्रत्ययवाद का एक दूसरा, गत्यात्मक, पहलू भी है। यदि विशेषों की एकता की व्याख्या के लिए जातिप्रत्यय आवश्यक हैं, तो क्या विभिन्न जाति प्रत्ययों की एकता के लिए कोई तत्त्व आवश्यक नहीं है? उत्तर में प्लेटो का कहना है कि सम्पूर्ण जाति प्रत्ययों को एकता के सूत्र में बांधने वाला, एक समष्टि में

गूंथने वाला, भी एक महाप्रत्यय है, अर्थात् श्रेयस्-प्रत्यय (Idea of the Good)। ज्ञानमात्र के अभिलाषियों को विशेषों से दृष्टि हटाकर प्रत्यय-जगत् पर दृष्टि जमानी चाहिए, और दार्शनिक जीवन का प्रधान व्यापार श्रेयस्-प्रत्यय के सम्बन्ध में चिन्तन और मनन करना है। श्रेयस्-प्रत्यय की व्याख्या प्लेटो ने एक रूपक द्वारा की है। श्रेयस्-प्रत्यय सूर्य के समान है, वह पदार्थों की उत्पत्ति और वृद्धि का ही नहीं, उनके ज्ञात होने का भी हेतु है, जैसे सूर्य पदार्थों के चक्षुगोचर होने का। इस रूपक में प्लेटो जातिप्रत्ययों को दृश्य पदार्थों के जीवन की प्रेरक-शक्तियां कथन कर डालता है। जाति प्रत्यय वस्तु जगत् की (१) उत्पत्ति और वृद्धि; एवं (२) ज्ञातता या ज्ञात होने के हेतु हैं। इस प्रकार देखे जाने पर जाति प्रत्यय वर्तमान विज्ञान के वस्तु-नियमों अथवा प्राकृतिक नियमों से विशेष भिन्न नहीं रहते। प्राकृतिक नियमों की धारणा प्लेटो में अविकसित रूप में वर्तमान है।

किन्तु जाति-प्रत्यय वस्तुओं या वस्तु जगत् के अस्तित्व का नियन्त्रण करने वाले भाव-नियम (Positive Laws) मात्र नहीं है; वे विश्व-प्रक्रिया के आदर्श-नियम (Normative Laws) भी हैं। प्रत्यय जगत् के साथ श्रेयस् शब्द का योग प्लेटो के दर्शन को एक दूसरी ही दिशा दे देता है। जाति-प्रत्यय वास्तविक परिवर्त्तन-व्यापारों की प्रेरक-शक्तियां मात्र न रहकर उनके आदर्शभूत अर्थात् लक्ष्य या ध्येय बन जाते हैं। अपने जीवन में मानव समुदाय किसी ध्येय, उद्देश्य लक्ष्य या आदर्श पर दृष्टि रखकर प्रवृत्त होते हैं; उसी प्रकार विश्व प्रपञ्च की सारी घटनाएं एक लक्ष्य या आदर्श के लाभ (Realization) के लिए प्रवर्त्तित हो रही हैं। विश्व-प्रक्रिया का चरम लक्ष्य श्रेयस्-प्रत्यय है।

प्लेटो के दर्शन की प्रमुख धारणा श्रेयस्-प्रत्यय की धारणा है, इस-लिये प्रयोजनवाद को (अर्थात् इस सिद्धान्त को कि विश्व-प्रक्रिया किसी आदर्श-के लाभ के लिए प्रवर्त्तित हो रही है, अनवरत एक लक्ष्य की ओर बढ़ रही हैं) उसके दर्शन का प्रधान तत्त्व समझना चाहिये। "टिमियस"

नामक सम्वादग्रन्थ में प्लेटो ने ईश्वर का प्रवेश कराया है। वहां प्लेटो कहता है कि ईश्वर जाति प्रत्ययां का, जो वस्तु जगत् के बिम्बरूप अथवा मूलरूप, (Archetypes) हैं, चिन्तन करता है और फिर उन्हें पुद्गल तत्त्व (Matter) में स्थापित कर देता है। इस प्रकार विश्व-प्रपञ्च का विस्तार होता है। यहां प्लेटो स्पष्टरूप में द्वैतवाद का प्रतिपादन करता है। उसका पुद्गल-तत्त्व शून्याकाश (Space) से भिन्न नहीं है। यह शून्य तत्त्व जाति-प्रत्ययों के योग से विविधरूपों वाले प्रपञ्च में परिणत हो जाता है। इस प्रकार विश्व-प्रपञ्च दो कारणों का कार्य है, एक आकाश और दूसरा प्रत्यय-जगत् जो समष्टि रूप में श्रेयस्-प्रत्यय है। श्रेयस्-प्रत्यय विश्व-प्रक्रिया का सारभूत एवं आदर्शभूत दोनों ही है। प्लेटो के अनुसार विश्व-प्रक्रिया की मूल प्रेरक शक्ति उसकी आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति अर्थात् श्रेयस्-प्रत्यय का लाभ (Realization) है। श्रेयस्-प्रत्यय की धारणा ही प्लेटो के दर्शन का केन्द्र है, इसलिए प्लेटो की दी हुई विश्व की व्याख्या को प्रयोजनवाद (Finalism) कहना चाहिए।

अरस्तू

अरस्तू का दर्शन भी विश्व की ऐसी ही व्याख्या देता है। प्लेटो और अरस्तू में मुख्य भेद यह है कि अरस्तू प्लेटो की भांति प्रत्यय जगत् और वस्तु जगत् को एक-दूसरे से नितान्त विच्छिन्न नहीं कर देता। प्लेटो ने प्रत्यय-जगत् और वस्तु-जगत् के सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया है, अरस्तू के दर्शन का आरम्भ प्लेटो की इसी कठिनाई के निर्देश से होता है। वस्तुतः अरस्तू के दर्शन में प्लेटो का प्रयोजनवाद पूर्ण विकास पा जाता है। प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू का दृष्टिकोण अधिक गत्यात्मक और मूर्त्त है; वह अनुभव जगत् के अधिक निकट चलना पसन्द करता है। प्लेटो की भांति अरस्तू को वस्तु-जगत् से द्वेष नहीं है; वह पार्थिव पदार्थों के स्पर्श से कुण्ठित नहीं होता। प्लेटो ने मुख्यतः वस्तु-तत्त्व के अस्तित्व या सत्ता (Being) पर विचार किया है, अरस्तू का ध्यान मुख्यतः 'होने'

(Becoming) पर जाता है; वह विश्व-प्रक्रिया के गत्यात्मक पहलू को ही अधिक देखता है। प्लेटो के अपरिवर्त्तनीय, स्थिर या ध्रुव प्रत्यय-जगत में अरस्तू का विश्वास नहीं है।

अरस्तू के दर्शन की केन्द्रीय धारणा विकास या प्रगति (Development) की धारणा है। वस्तु-जगत कोई स्थिर पदार्थ नहीं है, वह 'है', इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक ठीक है कि वह 'हो रहा है'। प्रत्येक पदार्थ एक दशा से दूसरी दशा में अनवरत परिवर्त्तित हो रहा है। हम कह सकते हैं कि प्रत्येक पदार्थ स्थिर वस्तु नहीं, अपितु एक क्रिया या प्रक्रिया (Process) है। अरस्तू का कहना है कि वस्तुओं की प्रगति या परिवर्त्तनशीलता सोद्देश्य है। प्रत्येक वस्तु का एक-एक स्वाभाविक, पूर्ण या विकसित रूप है, और प्रत्येक वस्तु उसी रूप को प्राप्त करने की क्रिया में लगी हुई है। विश्व के अशेष पदार्थ अपने-अपने आदर्श रूपों की ओर विकसित हो रहे हैं।

इस विकास को हृदयङ्गम कराने के लिए अरस्तू ने वस्तुओं का दो प्रकार से विश्लेषण किया है। हम इंगित कर चुके हैं कि प्लेटो के विरुद्ध अरस्तू जाति-प्रत्ययों के जगत को वस्तु-जगत से अलग कल्पित नहीं करता। यूनानी दर्शन में वस्तु-द्रव्य (Matter) और आकार या "फार्म" के भेद की कल्पना पहले-पहल पाइथेगोरस ने की थी। पाइथेगोरस ने फार्मों को सख्यात्मक बतलाया था। प्लेटो के दर्शन में फार्म और मैटर का प्रभेद अधिक स्पष्ट कर दिया गया, और फार्मों को जाति-प्रत्यय बना दिया गया। अरस्तू प्राचीन फार्म नाम का प्रयोग करना अधिक पसन्द करता है। प्लेटो के विरुद्ध उसका कहना है कि वस्तु-द्रव्य और उसका आकार या फार्म अलग-अलग नहीं किये जा सकते। फार्म या आकार वस्तु के द्रव्य में ही रहता है, और स्वयं वस्तु लगातार इस फार्म को अभिव्यक्त करने अथवा प्राप्त करने की क्रियामात्र है। फार्म के लिए अरस्तू ने स्वभाव (Nature) शब्द का प्रयोग भी किया है। फार्म को प्राप्त करने की क्रिया अपने स्वभाव को पाने की क्रिया भी कही

जा सकती है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि जिसे हम वस्तु या पदार्थ कहते हैं वह बीजभाव (Potential) से वास्तविकता, या वास्तविकभाव (Actual) की ओर संक्रान्ति या संक्रमण-क्रिया है। यह वास्तविक भाव ही वस्तु का स्वभाव भी है। यहां अरस्तू एक और बात कहता है। बीजभाव से वास्तविकता की ओर संक्रमण के लिए एक ऐसे पदार्थ की सहायता अपेक्षित होती है जो स्वयं वास्तविकता रूप है—वास्तविक (Actual) की सहायता से ही बीज-भाव वास्तविक बनता है।

इसी तथ्य को अरस्तू ने अपने चतुष्कारणवाद से समझाने की चेष्टा की है। प्रकृति-जगत् और कला-जगत् दोनों में वस्तु-सृष्टि के लिए चार कारण अपेक्षित होते हैं अर्थात् उपादान या समवायिकारण, वस्तु का आकार, निमित्तकारण और चरमकारण। किसी वस्तु को जानने के लिए उस वस्तु के इन चार कारणों को जानना ज़रूरी है। उदाहरण देने से विषय स्पष्ट हो जायगा। आम्र वृक्ष के विकसित रूप में उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि विकसित आम्र वृक्ष कहीं पर पहले से वर्त्तमान हो जिससे बीज प्राप्त हो सके। बीज आम्र वृक्ष का उपादानकारण है। बीज में जो आम का फार्म या आकार व्याप्त है, वह उसका दूसरा कारण (Formal Cause) है। वह वृक्ष जिससे बीज प्राप्त हुआ है, निमित्त कारण है, और पूर्ण विकसित आम्र वृक्ष, जो बढ़ते हुए आम के पौधे का लक्ष्य है, उसका चरम हेतु (Final Cause) है। अरस्तू का कारण कार्य से पहले ही वर्त्तमान रहने वाली चीज़ नहीं है; वह वस्तु की विकास-प्रक्रिया का पर्यवसान भी हो सकता है। वस्तु का अन्तिम या पूर्ण विकसित रूप, उसका लक्ष्य या आदर्श, भी उसका कारण है। मूर्त्तिकार जब तांबे में मूर्त्ति बनाता है तब तांबा मूर्त्ति का उपादान-कारण होता है, उसमें छिपा हुआ मूर्त्ति का आकार 'फार्मल' कारण, मूर्त्तिकार के मस्तिष्क में जो मूर्त्ति का चित्र है वह तीसरा या निमित्तकारण, और मूर्त्ति का अन्तिमरूप उसका चरमकारण है। निमित्तकारण स्वयं मूर्त्तिकार को भी कहा जा सकता है। वास्तव में वस्तु के मुख्यकारण दो ही हैं, एक

उपादान और दूसरा फार्म । इस अन्तिमकारण के ही तीन प्रभेद हैं। किन्तु अरस्तू निमित्तकारण को अत्यन्त आवश्यक मानता है।

द्रव्य और आकार, मैटर और फार्म, आपेक्षिक शब्द हैं। एक दृष्टि से जो फार्म है, दूसरी दृष्टि से वह मैटर हो सकता है। सोने को खींचकर जब तार बनाया जायगा तब तार फार्म होगा और सोना द्रव्य या मैटर, किन्तु गहने की अपेक्षा से तार को मैटर माना जा सकता है। विश्व के पदार्थ लगातार द्रव्यावस्था से आकार-प्राप्ति की ओर बढ़ रहे हैं। यहां प्रश्न उठता है, क्या शुद्ध द्रव्य और शुद्ध फार्म की भी सत्ता है ? हम कह चुके हैं कि अरस्तू द्रव्य और आकार को अलग करने का विरोधी था। उसके दृष्टिकोण से शुद्ध द्रव्य और शुद्ध फार्म दोनों की सत्ता असम्भव होनी चाहिए। किन्तु अपने इस मौलिक मन्तव्य के विरुद्ध कि फार्म और मैटर वस्तुमात्र के दो पहलू हैं, जो अलग-अलग नहीं किये जा सकते, अरस्तू मानता है कि ईश्वर शुद्ध फार्म या शुद्ध वास्तविकता है, जिसमें द्रव्य का अंश बिल्कुल नहीं है। यही नहीं, ईश्वर विश्व-प्रक्रिया का, उसके विकास का, निमित्तकारण है; वही उसका लक्ष्य या चरमहेतु भी है। ईश्वर स्वयं गतिहीन है, पर वह विश्व-प्रक्रिया का गतिदाता है। जैसे इच्छा का विषय स्वयं विकृत हुए बिना हममें विकार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अचल ईश्वर विश्व को गति देता है। विश्व-प्रक्रिया की पूर्णता इसमें है कि वह बीज-भाव को छोड़कर वास्तविकता या वास्तवभाव प्राप्त करले, और क्रमशः अपने द्रव्यभाव को त्यागकर आकाररूप लाभ करले। इस विकास-प्रक्रिया के जारी रहने का कारण ईश्वर है, इसलिए वह निमित्तकारण है; उसका चरम हेतु या लक्ष्य भी ईश्वरत्व अर्थात् शुद्ध आकार है। इस प्रकार अरस्तू की विकास-धारणा उसे अन्त में प्लेटो के इस मन्तव्य पर ले जाती है कि द्रव्य-जगत् और प्रत्यय-जगत् अथवा द्रव्य और फार्म परस्पर विच्छिन्न हैं।

हमने कहा कि अरस्तू के दर्शन का मुख्य तत्त्व विकास की धारणा है, किन्तु यह विकास वर्तमान विकासवाद से भिन्न है। वर्तमान विकास-

वाद के अनुसार विकास-प्रक्रिया ऐसे रूपों की सृष्टि करती है जो पहले मौजूद नहीं थे; किन्तु अरस्तू वस्तुओं के विकसितरूप अर्थात् चरम-हेतु को पहले से ही अस्तित्ववाला मानता है। अरस्तू का विकास नूतनताओं की सृष्टि नहीं है, जो ऊंचे रूप विकास-प्रक्रिया से वस्तुओं को प्राप्त होते हैं, वे पहले ही मौजूद हैं। मूर्त्ति के बनाये जाने से पहले से ही उसका चित्र मूर्त्तिकार के मस्तिष्क में मौजूद होता है; उगते हुए आम के पौधे से पहले ही पूर्ण विकसित आम्र वृक्ष की सत्ता रहती है। विश्व-प्रक्रिया के विशुद्ध आकार-लाभ से पूर्व ही विशुद्ध आकृतिरूप ईश्वर का अस्तित्व है। विकास का सिद्धान्त वर्त्तमान काल में मुख्यतः प्राणिशास्त्र से प्रचारित हुआ है। डार्विन के अनुसार एक ही जीवन-तत्त्व क्रमशः विभिन्न जीव-योनियों में विकसित हुआ है। एक जीवयोनि कालान्तर में दूसरी जीव-योनि में परिवर्त्तित हो सकती है। किन्तु अरस्तू ठीक इसके विपरीत मत का समर्थक था; उसके मत में जीव-योनिया स्थिर हैं। किसी जीव के उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि उस जीव-योनि का कोई सदस्य—निमित्तकारण, पहले से ही वर्त्तमान हो। विकास का अर्थ नवीनता की सृष्टि नहीं, अपितु बीजभाव का वास्तविक होना है। वास्तव में अरस्तू के दर्शन में विकास का अर्थ उन्नति या प्रगति नहीं है, उसका अर्थ केवल प्रक्रिया-विशेष का पूरा हो जाना है। विश्व-प्रक्रिया अपने को पूर्ण करने में लगी हुई है अवश्य, किन्तु जो पूर्णता उसका लक्ष्य है उसे एक उच्चतर दशा कहना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार हम अरस्तू के दर्शन को प्रयोजनवादी तो कह सकते हैं, किन्तु उन्नतिवादी या प्रगतिवादी नहीं। वस्तुएं बीजभाव को छोड़कर जिस वास्तव भाव या वास्तविकता को प्राप्त करती हैं वह किसी-न-किसी रूप में पहले से ही वर्त्तमान रहती है और उस वस्तु के विकास का नियन्त्रण करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूनान के दोनों प्रमुख दार्शनिकों, प्लेटो और अरस्तू ने, विश्व की प्रयोजनवादी व्याख्या दी है। वास्तव में इस व्याख्या का बीज प्लेटो के गुरु सुकरात ने डाला था। 'फीडो' नामक

सम्वाद-ग्रन्थ में सुकरात अपनी आत्मकथा कहते हुए बतलाता है कि किस उत्साह से उसने बुद्धितत्त्व (Nous) की कल्पना करने वाले एनेग्ज़ेगोरस के दर्शन का अध्ययन किया और किस प्रकार उसे यह देखकर निराशा हुई कि उक्त दार्शनिक बुद्धितत्त्व को प्रयोजन या उद्देश्य का वाहक नहीं बनाता—बुद्धितत्त्व को विश्व-प्रक्रिया की सप्रयोजनता का हेतु कथित नहीं करता। इस प्रकार डिमोक्राइटस के जड़वाद और यन्त्रवाद के बाद शीघ्र ही यूनानी मस्तिष्क वस्तु-परिवर्त्तनों में प्रयोजन का अन्वेषण करने लगा था। प्लेटो का प्रयोजनवाद नैतिक व्याख्या को भी सहन कर सकता है। श्रेयस्-प्रत्यय, जिसकी ओर विश्व-प्रक्रिया बढ़ रही है अथवा जिसे वह अभिव्यक्त कर रही है, एक नैतिक (Moral) और धार्मिक (Religious) धारणा भी है। किन्तु प्लेटो में, उसके स्थित्यात्मक दृष्टिकोण के कारण, विकास या प्रगति की भावना नहीं पाई जाती। अरस्तू में विकास की धारणा परिपक्व हो जाती है, किन्तु उसका विकास किसी प्रक्रिया की वैज्ञानिक पूर्णता की ओर होता है, नैतिक पूर्णता की ओर नहीं। इस दृष्टि से साख्य और अरस्तू के विकास में समानता है। किन्तु सांख्य का विकास चरम-हेतु (Final Cause) अथवा विकास की अन्तिम अवस्था, विकास-प्रक्रिया के लक्ष्य से, निर्धारित नहीं होता। इसलिए सांख्य-विकास का स्वर यन्त्रवादी है। चरम-हेतु को प्रक्रिया-विशेष का निर्धारण या नियमन (Determination) करने वाला मानने के कारण ही प्लेटो और अरस्तू प्रयोजनवादी हैं। इसके विपरीत जिस तन्त्र या मत में चरम हेतुओं को नहीं माना जाता उसे यन्त्रवादी कहना चाहिए। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगाल ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक जड़वाद और नव्योत्क्रान्तिवाद' (Modern Materialism and Emergent Evolution) में यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद की इसी प्रकार व्याख्या की है। वे कहते हैं कि यन्त्रवाद की अपेक्षा हम प्रयोजनवाद को ज्यादा समझते हैं, क्योंकि जीवित-प्राणी होने के नाते हमें सोद्देश्य या सप्रयोजन व्यापारों में प्रवृत्त होने का साक्षात् अनुभव है। प्रयोजनोन्मुख

घटनाएं वे हैं जिन में किसी लक्ष्य का आभास रहता है, और प्रत्येक गति लक्ष्य की ओर प्रगति होती है तथा लक्ष्य-प्राप्ति में कुछ-न-कुछ सन्तोष होता है। जिन घटनाओं में यह गुण नहीं पाये जाते उन्हें यान्त्रिक (Mechanical) घटनाएं कहते हैं। यान्त्रिक घटनाओं को प्रयोजनवती घटनाओं की भिन्नता या विरोध से समझा जा सकता है। उक्त लेखक के अनुसार यन्त्रवाद वह दार्शनिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार विश्व की सारी घटनाएं—प्राण-धारियों और मनुष्यों के व्यापारों सहित—यान्त्रिक या निष्प्रयोजन हैं; और विश्व के विवर्त्तनों को प्रयोजनोन्मुख मानने वाला सिद्धान्त प्रयोजनवाद है।❀

प्रो० ह्वाइट हेड कहते हैं कि यूनानी लोगों का प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण वस्तुतः नाटकीय था। उसके अनुसार प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या उनके अन्त या लक्ष्य द्वारा ही हो सकती थी।* यह दृष्टिकोण विज्ञान-विरोधी है। इसीलिए प्राचीन यूनान में विज्ञान का उदय न हो सका। विज्ञान का उदय और प्रसार आधुनिक योरुप में घटित हुआ है, और आधुनिक योरुपीय-मस्तिष्क सर्वांश में प्रयोजनवाद का विरोधी है।

हॉब्ज़

आधुनिक योरुपीय दर्शन का आरम्भ प्राचीन प्रयोजनवाद में सन्देह एवं उसके प्रति असन्तोष के साथ हुआ। फ्रांसिस बेकन-(१५६१—१६२६) ने चरम-हेतुओं (Final Causes) की तीव्र आलोचना की। टॉमस हॉब्ज़ के दार्शनिक मन्तव्य यन्त्रवाद की "स्पिरिट" से पूर्ण हैं। हॉब्ज़ के अनुसार पुद्गल और गति, दो ही विश्व के मूल तत्त्व हैं। चेतना भी पौद्गलिक गतियों का विकार है, वह मस्तिष्कगत स्नायविक परिवर्त्तनों का ही दूसरा नाम है। हॉब्ज़ यद्यपि ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता था तथापि वह एक प्रकार से जड़वादी ही था। हॉब्ज़ प्रसिद्ध डेकार्ट का सम-सामयिक था। दर्शन शास्त्र पर हॉब्ज़ का अधिक

❀ पृ० १६३

* Science and the Modern World. p. 18—19

प्रभाव नहीं पड़ा। दर्शन के क्षेत्र में यन्त्रवाद का प्रचार करने का श्रेय मुख्यतः डेकार्ट को है।

डेकार्ट का यन्त्रवाद

यों तो डेकार्ट द्वैतवादी था, और शरीर से भिन्न आत्म-तत्त्व एवं शरीर अथवा जड़ जगत् और आत्माओं के स्रष्टा ईश्वर को मानता था, तथापि उसका यन्त्रवाद की ओर पूरा झुकाव था। आधुनिक योरुपीय दर्शन का जनक यह दार्शनिक अपने समय का प्रसिद्ध गणितज्ञ था। भौतिक-विज्ञान में भी उसकी अच्छी गति थी। वस्तुतः डेकार्ट का अधिकांश समय विज्ञान और गणित के अध्ययन में ही व्यतीत होता था। डेकार्ट के मत में पुद्गल द्रव्य का प्रधान गुण विस्तार है; पुद्गल विस्तारात्मक है, और उससे भिन्न आकाश या अवकाश की सत्ता नहीं है। इस मन्तव्य के अनुसार पुद्गल और आकाश (Space) एक ही हैं। पुद्गल के अतिरिक्त ईश्वर ने गति को भी उत्पन्न किया है। विश्व में गति का परिमाण सदैव एक ही रहता है। गति एक वस्तु से दूसरी वस्तु में संक्रान्त हो सकती है। अखिल ब्रह्माण्ड में गति और पुद्गल के अतिरिक्त (आत्माओं और ईश्वर को छोड़कर) कुछ भी नहीं है। लक्ष्य या चरम-हेतु की कल्पना का डेकार्ट के दर्शन में कोई स्थान नहीं है। डेकार्ट विश्व की सारी घटनाओं की यन्त्रवादी व्याख्या देता है। जीवधारी भी पुद्गल और गति का विकार है। डेकार्ट के अनुसार पशु-पक्षियों में आत्मा नहीं है। आत्मा का विशिष्ट गुण सोचना है, और वह केवल मनुष्य में पाया जाता है, इसलिए मनुष्य में ही आत्मा माननी चाहिए। सोचने-विचारने के अतिरिक्त जीवन या जीवित प्राणियों की सारी क्रियाएं पौद्गलिक स्थान-परिवर्त्तन हैं। डेकार्ट की प्रसिद्ध उक्ति है, 'मुझे सिर्फ पुद्गल तत्त्व (Matter) मिल जाय, और मैं समस्त विश्व की रचना कर डालूंगा'।*

* दे० Baldwin's Dictionary of Philosophy and Psychology Vol. 2, p. 58.

स्पिनोजा

स्पिनोज़ा में डेकार्ट का यन्त्रवाद पूर्णता को पहुंच गया। डेकार्ट ने आत्माओं एवं उनके विचारों को यान्त्रिक पौद्गलिक जगत् की परिधि से बाहर कर दिया था। उसने यह भी मान लिया था कि आत्माएं अपने व्यापारों में स्वतन्त्र (Free) होती हैं, किन्तु स्पिनोज़ा की दुनिया में कहीं कुछ भी स्वतन्त्र नहीं है, सब कुछ अपने कारणों द्वारा नियन्त्रित या निर्धारित (Determined) है। दर्शन शास्त्र के इतिहास में स्पिनोज़ा अपने चरम-हेतुओं (Final Causes) या प्रयोजनवाद के विरोध के लिए प्रसिद्ध है। संसार की कोई घटना—और मानवी व्यापार अपवाद नहीं है—किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं होती, प्रत्येक घटना की व्याख्या उसके कारणों का निर्देश करके हो सकती है। हमारे विचार और व्यापार ठीक उसी तरह निर्धारित (Determined) हैं जैसे कि भौतिक-जगत् के परिवर्त्तन या घटनाएं। स्पिनोज़ा ने डेकार्ट के द्वैतवाद को मानने से इन्कार कर दिया। विस्तार और बोध या विचार (Thought) दो भिन्न द्रव्यों के गुण या धर्म नहीं हैं। द्रव्य एक ही हो सकता है और बोध और विस्तार दोनों ही उसके धर्म (Attributes) हैं। इन धर्मों वाला द्रव्य अपने को अनन्त प्रकारों (Modes) में प्रकट करता है; जिन्हें हम आत्माएं कहते हैं वे, और जिन्हें हम जड़ पदार्थ कहते हैं वे भी एक ही द्रव्य के प्रकार हैं। आत्माओं में बोध-गुण की अभिव्यक्ति होती है और जड़ वस्तुओं में विस्तार गुण की। एक द्रव्य से यह विविध जगत् किस प्रकार उद्भूत होता है? इसके उत्तर में स्पिनोज़ा कहता है कि जैसे त्रिभुज अपने गुणों या विशेषताओं का हेतु या आधार है, उसी प्रकार विश्व की अशेष व्यक्तियों का हेतु या कारण द्रव्य है। जिस प्रकार त्रिभुज अपनी विभिन्न विशेषताओं का कारण हुए बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार द्रव्य भी इस सृष्टि का हेतु बने बिना नहीं रह सकता। ऐसी दशा में सृष्टि-रचना का कोई उद्देश्य या प्रयोजन नहीं हो सकता। जिस प्रकार त्रिभुज से उसकी विशेषताएं स्वतः निर्धारित या

निस्सृत होती हैं, उसी प्रकार द्रव्य से, द्रव्य के स्वभाव से, यह अशेष बोध और विस्तारात्मक सृष्टि निर्धारित या प्रवाहित हो रही है। जिस प्रकार त्रिभुज अपनी विशेषताओं को नहीं छोड़ सकता, उसी प्रकार द्रव्य या ईश्वर से किसी दूसरे प्रकार की सृष्टि सम्भव नहीं थी।

स्पिनोज़ा की कार्य-कारणभाव की धारणा में काल (Time) का कोई स्थान नहीं है। उसका कार्य-कारणभाव कालिक सम्बन्ध नहीं है। स्पिनोज़ा बार-बार ईश्वर (द्रव्य) और सृष्टि का सम्बन्ध समझाने में त्रिभुज तथा उसके गुणों या विशेषताओं का उदाहरण देता है। त्रिभुज और उसके गुणों में वस्तुतः कार्य-कारणभाव नहीं है, त्रिभुज अपनी विशेषताओं का आधार या अधिष्ठान (Ground) मात्र है। गुण और गुणी में एक प्रकार का अकालिक (Non-temporal) आवश्यक (Necessary) सम्बन्ध रहता है। ईश्वर और सृष्टि के सम्बन्ध को इस प्रकार का घोषित करके स्पिनोज़ा सृष्टि-प्रक्रिया की वास्तविकता को क्षुण्ण कर देता है। यदि ईश्वर और सृष्टि में वही सम्बन्ध है जो त्रिभुज और उसकी विशेषताओं में, तो वे दोनों एक भाति शाश्वत या चिरन्तन हैं, और ईश्वर को सृष्टि से पहले अथवा सृष्टि को ईश्वर के बाद सिद्ध होने वाला पदार्थ नहीं कहा जा सकता।

स्पिनोज़ा की पद्धति दार्शनिक यन्त्रवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है। पुरुष को सृष्टि-प्रक्रिया से अलग न मानने के कारण स्पिनोज़ा का यन्त्रवाद सांख्य की अपेक्षा अधिक उग्र (Radical) और पूर्ण है। स्पिनोज़ा के विश्व में कहीं किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नही है। सब कुछ निर्धारित या नियत है। मनुष्यों में कर्तृस्वातन्त्र्य की प्रतीति भ्रम है। पारमार्थिक-दृष्टि से न कोई कर्म शुभ है न अशुभ; नैतिक-भेद व्यावहारिक हैं। किन्तु स्पिनोज़ा मानता है कि दुष्ट कर्मों का बुरा फल मिलता है। शुभ कर्मों से सुख और अशुभ कर्मों से दुःख की प्राप्ति भी उन कर्मों की भांति ही केरहस्य निर्धारित या निश्चित है। जीवन का सब से बड़ा कर्त्तव्य द्रव्य और सृष्टि को समझ कर उनकी वास्तविकताओं का सन्तुष्ट बुद्धि से चिन्तन करना है।

लाइबनिज़

स्पिनोज़ा की दी हुई विश्व की इस यन्त्रवादी व्याख्या का लाइबनिज़ ने विरोध किया। स्पिनोज़ा के दर्शन में व्यक्ति का कोई अस्तित्त्व, कोई महत्त्व, नहीं है। स्पिनोज़ा का द्रव्य या ईश्वर सिंह की गुफ़ा की भांति है; वहां जाने के पदचिह्न तो मिलते हैं, किन्तु वहां से लौटने का कोई पद-चिह्न नहीं मिलता। द्रव्य सब चीजों का अपने में ग्रास कर लेता है। लाइबनिज़ का दर्शन विश्व का एक दूसरा ही चित्र उपस्थित करता है। डेकार्ट और स्पिनोज़ा के अनुसार द्रव्य वह है जो अपने में अस्तित्त्ववान् है (जो अपने आस्तित्त्व के लिए किसी दूसरे तत्त्व की अपेक्षा नहीं करता; जिसकी निरपेक्ष सत्ता है) और जिसकी धारणा अन्य किसी पदार्थ की धारणा से निरपेक्ष बन सकती है। डेकार्ट ने ईश्वर को एक मात्र निरपेक्ष द्रव्य मानते हुए भी आत्माओं और पुद्गल को अलग द्रव्य मान लिया था। स्पिनोज़ा ने इसका विरोध किया; निरपेक्ष द्रव्य एक ही हो सकता है। किन्तु लाइबनिज़ ने इन दार्शनिकों की दी हुई द्रव्य की परिभाषा को मानने से इन्कार किया। डेकार्ट के दर्शन ने शरीर और आत्मा के द्वैत को मान कर उनके सम्बन्ध की भयंकर समस्या को जन्म दिया। स्पिनोज़ा ने समानान्तरवाद का आश्रय लेकर ऊपर की समस्या का हल तो किया, किन्तु उसने एक ही द्रव्य को बोध और विस्तार जैसे विरोधी गुणों का वाहक बना डाला। लाइबनिज़ का मत है कि द्रव्य का प्रधान धर्म शक्ति का केन्द्र अथवा परिवर्त्तनों का आश्रय होना है। विश्व-सृष्टि इसी प्रकार के अनन्त शक्ति-केन्द्रों का समूह है। यह शक्ति-केन्द्र जड़ नहीं, चेतन हैं। लाइबनिज़ ने उन्हें चिद्विन्दु (Monad) नाम दिया है। चिद्विन्दु निरंश, निरवयव और अविभाज्य हैं। डिमोक्राइटस के जड़ परमाणुवाद के विरोध में लाइबनिज़ चेतनपरमाणुवाद का प्रतिपादन करता है। डिमो-क्राइटस के परमाणु विस्तृत अथवा प्रदेशवान् (Extended) होने के कारण अविभाज्य नहीं हो सकते—उनके विभाग की कल्पना सम्भव है। वास्तविक परमाणु चेतन ही हो सकते हैं।

यह अनन्त चिन्मय परमाणु या चिद्विन्दु एक-दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध हैं; उनमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती। एक पर दूसरे का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लाइबनिज़ के शब्दों में चिद्विन्दु गवाक्ष-हीन (Windowless) हैं। प्रत्येक चिद्विन्दु शक्ति-केन्द्र अथवा व्यापारों का आश्रय है; प्रत्येक चिद्विन्दु के भीतर परिवर्त्तन का क्रम चल रहा है। यह परिवर्त्तन या विकास अधिकाधिक चेतना के लाभ की ओर है। यदि चिद्विन्दु एक-दूसरे से नितान्त पृथक् हैं तो शरीर और आत्मा अथवा शारीरिक और मानसिक व्यापारों में सामञ्जस्य क्यों दीखता है तथा समाज के विभिन्न सदस्य परस्पर आलाप-संलाप करके विभिन्न सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित करते हैं? लाइबनिज़ का उत्तर है कि इन सम्भावनाओं का हेतु पूर्वस्थापित-सामञ्जस्य (Pre-established Harmony) है। चिद्विन्दु-जगत् के स्रष्टा ईश्वर ने उन्हें इस प्रकार बनाया है कि प्रत्येक चिद्विन्दु अपने भीतर समस्त ब्रह्माण्ड को प्रतिबिम्बित करता है। प्रत्येक चिद्विन्दु का यह प्रतिबिम्बीकरण अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण से होता है; इस प्रकार प्रत्येक चिद्विंदु का संसार अलग है। तथापि चिद्विंदुओं के विभिन्न प्रतिबिम्बों में समानता भी रहती है जिसके फलस्वरूप सामाजिक जीवन सम्भव हो जाता है। लाइबनिज़ के मत में विभिन्न चिद्विन्दु कम या अधिक उन्नत दशा में हैं और उन में पड़ने वाली विश्व की छाया भी कम या अधिक स्पष्ट होती है। जड़ तत्त्व की तो, लाइबनिज़ के दर्शन में, सत्ता ही नहीं है। इस लिए शरीर भी जड़ नहीं है और शरीरात्म-सम्बन्ध की समस्या उठती ही नहीं। लगभग समान स्पष्ट प्रतिबिम्ब वाले चिद्विन्दु एकत्रित होकर एक वैयक्तिक शरीर बनाते हैं, इसीलिए शारीरिक और मानसिक दशाओं में सम्वादिता देख पड़ती है। चिद्विंदुओं के प्रतिबिम्बीकरण का हेतु, जैसा कि हमने कहा, ईश्वर द्वारा स्थापित सामञ्जस्य है। जिस प्रकार अनेक घड़ियां नितांत भिन्न और एक-दूसरे के प्रभाव से मुक्त होते हुए भी एक ही समय रखती हैं, उसी प्रकार चिद्विंदु अलग-अलग अपने में एक ही विश्व को प्रतिबिम्बित करते हैं। क्योंकि यह प्रतिबिम्ब कम या

अधिक स्पष्ट होते हैं, इसलिए अनन्त चिद्‌विंदु एक तारतम्यात्मक-श्रेणी (Graded Series) बनाते हैं। सम्पूर्ण विश्व चेतना के विभिन्न दर्जों (Degrees) वाले चिद्‌विंदुओं का समुदाय है। इस तारतम्यात्मक-श्रेणी का शीर्ष ईश्वर है।

लाइबनिज़ कहता है कि उसका दर्शन व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता देता है क्योंकि उसके अनुसार व्यक्ति के विकास का निर्धारण स्वयं उसके अपने अस्तित्व के नियमों से होता है, जबकि स्पिनोज़ा के दर्शन में सबका निर्धारक द्रव्य है। किन्तु उसका यह दावा अंशतः ही ठीक है। चिद्‌-विन्दुओ की प्रतिबिम्बीकरण-क्रिया का मूल हेतु ईश्वर है और उनके विकास का क्रम सदैव के लिए ईश्वर द्वारा निश्चित या निर्धारित कर दिया गया है। फिर चिद्‌विन्दुओं को स्वतन्त्र कैसे कहा जा सकता है ? वस्तुतः लाइ-बनिज़ यन्त्रवाद का विरोधी नहीं था। वह स्वयं गणित और विज्ञान का विद्यार्थी था और विश्व की यन्त्रवादी व्याख्या का पक्षपाती था। तथापि यह कहा जा सकता है कि स्पिनोज़ा की अपेक्षा उसके दर्शन में व्यक्ति को अधिक महत्त्व मिला। लाइबनिज़ यह भी कहता है कि ईश्वर चिद्‌-विन्दुओं के **अस्तित्व और सामञ्जस्य** का ही हेतु है, उनके स्वभाव (Essence) एवं उनकी सम्भावना का नहीं।* इस प्रकार लाइबनिज़ ने यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की। चिद्‌विन्दुओं का विकास एक लक्ष्य की ओर है, यद्यपि वह पहले से निर्धारित है। किन्तु लाइबनिज़ का यह सामञ्जस्य अपूर्ण रहा, क्योंकि चिद्‌विन्दुओं के विकास पर लक्ष्य या चरम हेतु कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं डालते।

डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइबनिज़ की बुद्धिवादी-पद्धतियां प्रायः सत्र-हवीं शताब्दी में प्रतिपादित हुई थीं। इसी शताब्दी में गेलिलिओ, केप्लर और न्यूटन के नेतृत्व में विज्ञान काफी प्रगति कर रहा था। यह लोग भी यन्त्रवादी दृष्टिकोण पर ज़ोर दे रहे थे। वस्तुतः इस शताब्दी में भौतिक-

*** दे० अर्डमान, भाग २, पृ० १८३**

विज्ञान और दर्शन साथ-साथ चल रहे थे। उपर्युक्त वैज्ञानिक सब आस्तिक थे, और इस काल के दार्शनिक यन्त्रवाद की महत्ता स्वीकार कर रहे थे। किन्तु कुछ काल बाद यह स्पष्ट हो गया कि यन्त्रवाद और किसी प्रकार का अध्यात्मवाद साथ-साथ नहीं चल सकते। हीगल के दर्शन में प्रयोजनवाद का पुनरुज्जीवन हुआ और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में विज्ञान से प्रभावित यन्त्रवाद और जड़वाद का उदय हुआ।

ह्यूम और काण्ट

ऊपर के मिश्रित वैज्ञानिक और दार्शनिक यन्त्रवाद पर सबसे कड़ा प्रहार डेविड ह्यूम ने किया। यन्त्रवाद का, विशेषतः उसके वैज्ञानिक रूप में, प्रधान अवलम्ब कार्य-कारणभाव की धारणा है। ह्यूम ने कार्य-कारण-भाव की वास्तविकता में सन्देह प्रकट किया। यह सन्देहवाद भौतिक-शास्त्र और उसके यन्त्रवाद की जड़ हिला देने वाला था। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के दार्शनिकों को विज्ञान से कोई द्वेष नहीं था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि काण्ट ने ह्यूम के विरुद्ध विज्ञान की सम्भावना एवं सत्यता का मण्डन करने की चेष्टा की, किन्तु काण्ट डेकार्ट और स्पिनोज़ा के यन्त्रवाद को समग्रता में नहीं अपना सका, न वह लाइबनिज़ के दिए हुये यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद के सामञ्जस्य को ही स्वीकार कर सका। काण्ट ने स्वयं भी दोनों का कोई सुन्दर सामञ्जस्य प्रस्तुत नहीं किया। इसके विपरीत उसने यान्त्रिक-जगत् और प्रयोजन-जगत् को नितान्त भिन्न कल्पित कर डाला। प्रकृति-जगत् में कार्य-करण-भाव आदि नियमों का अखण्ड साम्राज्य है, तथा नैतिक अथवा नैतिक प्रयत्नों के जगत् में बुद्धिमूलक स्वतन्त्रता है। नैतिक जगत् लक्ष्यान्वेषण अथवा आदर्शों के लाभ का संसार (Realm of Ends) है। प्रकृति-जगत् अतात्त्विक है, परमार्थ-जगत् का विवर्त्तमात्र है; उसमें रहकर हम कभी वस्तु-तत्त्व को नहीं पकड़ सकते! हमारा नैतिक-जीवन ही हमें आत्मा, ईश्वर, अमरता आदि पारमार्थिक सत्यों से परिचित करा सकता है।

काण्ट की इस घोर द्वैतवादी स्थिति में दार्शनिक चिन्तन बहुत दिनों

तक नहीं ठहर सकता था। काण्ट ने न यन्त्रवाद का विरोध किया और न प्रयोजनवाद का, किन्तु वह दोनो में किसी प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सका। वस्तुतः काण्ट के दर्शन का विशेष महत्त्व उसकी ज्ञान-मीमांसा में है। काण्ट का सबसे बड़ा अन्वेषण यह था कि मानव-बुद्धि के लिए भौतिक-जगत् सम्बन्धी सार्वभौम और आवश्यक (Univresal and Necessary) तथ्यों का अनुसंधान करना तभी संभव है जब प्राकृतिक नियमों का स्रोत हमारी बुद्धि हो और प्रकृति के निर्माण में उसका हाथ हो। किन्तु बुद्धि को प्रकृति की जनयित्री बनाने के बदले में काण्ट यह भी कह सकता था कि प्रकृति के ज्ञान के लिए मानव-बुद्धि के नियमों और प्रकृति के नियमों में सामञ्जस्य होना अनिवार्य है—यदि बुद्धि कार्य-कारणभाव की कल्पना के बिना नहीं सोच सकती, तो प्रकृति-जगत में भी कार्यकारणभाव की व्याप्ति होनी चाहिए। सार्वभौम और आवश्यक सत्यों की व्याख्या के लिए हीगल ने काण्ट के दिये हुए समाधान को अस्वीकार करके उपर्युक्त दूसरे विकल्प का ग्रहण या अनुमोदन किया।

हीगल—प्रयोजनवाद का चरम-उत्कर्ष

दर्शनशास्त्र के इतिहास में हीगल की पद्धति विश्वप्रकिया की पूर्ण या विस्तृत व्याख्या करने का सम्भवतः सबसे बड़ा प्रयत्न है। यह पद्धति विश्व के किसी अङ्ग को अछूता नहीं छोड़ती; प्रकृति-जगत् के अतिरिक्त वह जीव-जगत् एवं चेतन मनुष्य के नैतिक और बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक, वैयक्तिक और सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक, साहित्यिक और धार्मिक इतिहास को समग्रता में समझाने अथवा बुद्धिगम्य बनाने की कोशिश करती है। हीगल के अनुसार विश्व-ब्रह्माण्ड में कोई घटना ऐसी नहीं होती जिसमें विश्वव्यापी बुद्धि-तत्त्व अभिव्यक्त न होता हो और जिसे बौद्धिक धारणाओं द्वारा न पकड़ा जा सके। बात यह है कि जो बुद्धि-तत्त्व विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, वही मानवी बुद्धि की धारणाओं एवं चिन्तन में भी स्फूर्तिमान है। अन्ततः मानव-बुद्धि और विश्व-प्रक्रिया में

व्याप्त बुद्धि-तत्त्व एक ही है । विश्व की ज्ञेयता एवं मानव-बुद्धि की ज्ञान-क्षमता का यही रहस्य है ।*

'विश्व में बुद्धि-तत्त्व व्याप्त है', इसका यही अर्थ है कि विश्व की प्रत्येक घटना पूर्णतया नियमित या नियन्त्रित है, प्रत्येक घटना विश्व के अस्तित्त्व-नियमों का पालन कर रही है । विश्व-प्रक्रिया के इन नियमों की चेतना हमें बौद्धिक धारणाओं के रूप में होती है । हमारी धारणाएं केवल हमारी अथवा आत्मनिष्ठ (Subjective) नहीं हैं, वे वस्तु-सृष्टि के नियमों की प्रतीक हैं । बुद्धि और विश्व में, ज्ञाता और ज्ञेय में, कोई द्वैत नहीं है; वे दोनो ही एक बुद्धि-तत्त्व (Reason) की अभिव्यक्तियां हैं ।

अरस्तू की भांति हीगल मानता है कि विश्व-ब्रह्माण्ड विकास-प्रक्रिया है जो एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ रही है । विश्व-प्रक्रिया की विभिन्न सीढ़ियां उसके विकास का क्रम बताती हैं । इसी प्रकार का क्रम-विकास बौद्धिक धारणाओं में भी देखा जा सकता है । जो बुद्धि-तत्त्व विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है वह एक सरल इकाई (Simple Unity) नहीं है, अपितु एक समष्टि है । विश्व के बुद्धि-तत्त्व को हीगल प्रत्यय या पूर्णप्रत्यय (Idea, Absolute Idea) कहता है । यह पूर्णप्रत्यय सारे अपूर्णप्रत्ययों, हमारी अपूर्ण अथवा सदोष धारणाओं, की पूर्णता अथवा समष्टि (System) है । पूर्णप्रत्यय हमारी धारणाओं अर्थात् हमारे बौद्धिक चिन्तन का पर्यवसान है, मानवबुद्धि की सारी कल्पनाएं पूर्णप्रत्यय में परिसमाप्त होती हैं । इसी परिसमाप्ति या पर्यवसान के लिए धारणाओं में विकास होता है । एक अपूर्ण धारणा को दूसरी अधिक पूर्ण धारणा खण्डित कर डालती है, और एक तीसरी धारणा में इन पहिली

* हार्फिडग कहता है—'जब हम विश्व-प्रक्रिया के सम्बन्ध में सोचते हैं तब मानो विश्व-प्रक्रिया हममें सोचती है' (When we think existence, existence thinks in us—A History of Modern Philosophy (1920), पृ० १८०)

विरोधी धारणाओं का सामञ्जस्य हो जाता है । यह तीसरी धारणा भी कालान्तर में अपनी विरोधी धारणा को जन्म देती है और उनके सामञ्जस्य के लिए फिर एक नूतन धारणा का उदय होता है । वाद, प्रतिवाद और युक्तवाद इस क्रम से धारणा-जगत् का विकास होता है; मानवी-चिन्तन इस विकास को प्रतिफलित करता है । मानवी-दर्शन का इतिहास धारणाओं के द्वन्द्वात्मक अथवा पारस्परिक विरोधमूलक विकास का निदर्शन (Illustration) मात्र है ।

एक धारणा दूसरी धारणा का विरोध करती है, उसे काटती है; यह निषेध या विरोध ही धारणाओं के विकास की प्रेरक शक्ति है । निषेधक धारणा निषिद्ध धारणा का लोप नहीं कर देती, वह उस (पहिली धारणा) के सत्यांश का अपने में समावेश कर लेती है । इस प्रकार धारणाएं, अधिकाधिक पूर्णता की ओर, जिसमें निषेध या विरोध की कोई सम्भावना नहीं रहेगी, अग्रसर होती हैं । धारणाओं का पर्यवसान पूर्णप्रत्यय में होता है जो एकमात्र समञ्जस (Harmonious, Self-Consistent) धारणा है । पूर्णप्रत्यय में दूसरी सब धारणाओं का तथ्य निहित है; अन्य सब धारणाएं एकांगी हैं, केवल पूर्णप्रत्यय में कोई एकांगिता, कोई कमी नहीं है । पूर्णप्रत्यय विश्व-प्रक्रिया का अमूर्त्त सार (Abstract Essence) है, वह विश्व की आत्मा है । पूर्णप्रत्यय विश्व-प्रक्रिया में बुद्धितत्त्व, बुद्धिगम्यता के रूप में व्याप्त है ।

हमने कहा कि पूर्णप्रत्यय विश्व का अमूर्त्त सार है । जिस प्रकार धारणाएं या प्रत्यय पूर्णता की ओर विकसित होते हैं, उसी प्रकार विश्व की मूर्त्त व्यक्तियां भी पूर्णत्व की ओर अग्रसर हो रही हैं । धारणा-जगत् की भांति प्रकृति-जगत् और मानव समाज में भी द्वन्द्वनियम चल रहा है । वस्तुतः मूर्त्त जगत् अमूर्त्त प्रत्यय-जगत् का ही शरीर या बाहरीरूप है; प्रत्यय जगत् मूर्त्त-जगत की आत्मा है । दीखने वाले जगत् के अस्तित्त्व अथवा विकास का नियमन करने वाले नियमों की समष्टि को ही प्रत्यय-जगत् कहते हैं । इसलिए, क्योंकि प्रत्यय-जगत् में द्वन्द्वन्याय चल रहा है, यह अनिवार्य है कि मूर्त्त

जगत् में भी द्वन्द्वनियम का आधिपत्य हो । हीगल की प्रसिद्ध उक्ति है कि जो कुछ वास्तविक या तात्त्विक है, वह बुद्धिमय (Rational) है, और जो बुद्धिमय या बुद्धिगम्य है, वही वास्तविक है। आशय यह है कि अनुभव-जगत् के सब क्षेत्रों में बुद्धि का राज्य है। वैज्ञानिक लोग मानते हैं कि जड़ जगत् अखण्ड नियमों के अधीन है, हीगल इस सिद्धान्त को अधिक व्यापकरूप दे देता है। जड़-जगत् की भांति ही जीव-जगत् और चेतना-जगत् भी बुद्धितत्त्व (नियमशीलता) के अधिष्ठान हैं । जीवित प्राणियों का विकास तथा चेतन मनुष्य की कुटुम्ब, भद्र समाज, राज्य आदि संस्थाओं का विकास भी द्वन्द्वनियम के अनुसार हुआ है। राजनैतिक क्षेत्र में क्रान्तियां तथा युद्ध होते हैं और कभी-कभी एक जाति पर दूसरी जाति का आधिपत्य हो जाता है, हीगल के अनुसार यह सब अखण्ड द्वन्द्वन्याय का निदर्शन है। विजयी जाति निषेधक धारणा के समान होती है, उसमें विजित जाति के गुण तो रहते ही हैं, कुछ अन्य गुण भी होते हैं। वह विजित जाति की अपेक्षा पूर्णता के अधिक समीप होती है। इसी प्रकार कला, धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में होने वाले सैद्धान्तिक परिवर्त्तन भी द्वन्द्वनियम को चरितार्थ करते हैं। तात्पर्य यह है कि हमारी सीमित दृष्टि को भले ही विश्व की कोई घटना आकस्मिक प्रतीत हो, किन्तु वास्तव में विश्व में कुछ भी अहेतुक नहीं है। कोई तुच्छ-से-तुच्छ या बड़ी-से-बड़ी घटना भी द्वन्द्वनियम का अतिक्रम नहीं कर सकती।

हीगल ने विश्व-प्रक्रिया के समग्र भाव से नियमित होने पर ज़ोर दिया, उसकी यह प्रवृत्ति विज्ञान के अनुकूल थी। किन्तु वह केवल यही बताकर सन्तुष्ट नहीं हुआ कि विश्व-प्रक्रिया सनियम है, उसने उसका सञ्चालन करने वाले व्यापक नियमों का स्वरूप स्थिर करने का प्रयत्न भी किया। विश्व का सर्वव्यापी नियम द्वन्द्वन्याय (Dialectic) है । निषेध या विरोध को विश्व-प्रगति का नियामक कथन करके हीगल ने विश्व-प्रक्रिया का एक नितान्त गतिमय चित्र उपस्थित किया। निषेध या विरोध जगत् की प्रेरक शक्ति है, उसके अस्तित्व का व्यापक नियम है । इस दृष्टि से

देखने पर हैगलिक दर्शन यन्त्रवाद का संस्करण-विशेष प्रतीत होता है। किन्तु यह निषेध या विरोध स्वयं विरोधों (Contradictions) को हटाकर सामञ्जस्य रूप पूर्णता प्राप्त करने के लिए है।⊛ इसलिए समञ्जस पूर्णता—हीगल के पूर्ण प्रत्यय या परब्रह्म—को भी विश्व-प्रक्रिया का नियामक कहा जा सकता है। क्योंकि पूर्णप्रत्यय या परब्रह्म विश्व विकास का लक्ष्य अर्थात् चरमहेतु (Final Cause) है, इसलिए हीगल के दर्शन को प्रयोजनवाद कहना नितान्त उचित है। इस प्रकार हीगल की पद्धति भी यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद के सामञ्जस्य का प्रयत्न है। यह प्रयत्न लाइबनिज़ की अपेक्षा अधिक सफल और पूर्ण है, क्योंकि यहां पूर्णप्रत्यय में वास्तविक नियामकता है, जब कि लाइबनिज़ यह नहीं बतलाता कि अनन्त चिद्विन्दु अन्ततः अनन्त ईश्वर (पूर्ण चिद्विन्दु) बन जायंगे।

यहां प्रश्न उठता है क्या परब्रह्म या पूर्णप्रत्यय पहले से पूर्ण विकसित नहीं है, जो उसे विश्व-विकास की अपेक्षा होती है ? क्या उसे अरस्तू के ईश्वर की भांति पहले से सिद्ध-पदार्थ नहीं मानना चाहिए ? हीगल से इस प्रश्न के अधिक स्पष्ट उत्तर की आशा नहीं करनी चाहिए। प्रत्यय-जगत् के विकास को वह कभी-कभी मात्र बुद्धिगत (Logical) कह डालता है, जिसका अर्थ यह है कि यह विकास वास्तविक अर्थात् कालिक (Temporal) या ऐतिहासिक घटना नहीं है। अन्यत्र वह कहता है कि विश्व-प्रक्रिया का पर्यवसान अथवा पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति केवल उस भ्रम या भ्रान्ति को हटाने में है जो उसे अभीतक अप्राप्त प्रदर्शित करती है।* इसका अर्थ यह हुआ कि विश्व का विकास अथवा विश्व-प्रक्रिया मात्र भ्रम या माया है, वास्तविकता नहीं। इस माया को स्वीकार करके

⊛ **हीगल की इस व्याख्या में हम ने मैक्टेगार्ट का अनुसरण किया है** (**दे०** Studies in Hegelian Cosmology).

* The consummation of the infinite end consists merely in removing the illusion which makes it seem yet unaccomplished. (Wallace, Logic of Hegel, p. 351)

ही, केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से, हम विश्व-प्रक्रिया को वास्तविक कह सकते हैं और ऊंचे जीवन के लिए प्रयत्न कर सकते हैं। वास्तव में पूर्णता पहले से ही सिद्ध है। हीगल की यह व्याख्या उसे अद्वैत वेदान्त के बहुत निकट ले आती है।

हीगल के बाद

हीगल अध्यात्मवादी विचारक था। प्रयोजनवाद और अध्यात्मवाद में घनिष्ठ सम्बन्ध है। काफी दिनों तक योरुप में हीगल के दर्शन की चर्चा रही, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अध्यात्मवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगी और चिन्तन का प्रवाह फिर यन्त्रवाद एवं जड़वाद की दिशा में मुड़ गया। मेयर, जूल और हम्बोल्ट ने द्रव्यात्वरत्व (Conservation of Energy) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार विश्व में जड़तत्त्व या पुद्गल शक्ति का परिमाण अक्षुण्ण है; एवं प्राणिशास्त्र-विशारदों ने घोषित किया कि वनस्पतियों तथा जीवधारियों—सब के शरीर की इकाई (Cell) अर्थात् जीवन-द्रव्य का वाहक अणु-विशेष है।* इन वैज्ञानिक विचारकों को अध्यात्मवाद की कल्पनाएं नितान्त असन्तोषजनक लगती थीं। जब डार्विन ने सन् १८५६ में अपनी प्रसिद्ध "जीवयोनियों की उत्पत्ति" पुस्तक प्रकाशित की तो वैज्ञानिक-विचारकों की जड़वादी प्रवृत्तियों को जैसे एक नया आधार मिल गया और हीगल आदि के प्रयोजनवादानुप्राणित अध्यात्मवाद का अवशिष्ट प्रभाव भी खत्म हो चला।

वैज्ञानिक यंत्रवाद—डार्विन-स्पेन्सर

डार्विन के विकासवाद ने यह सिद्ध कर दिया कि (१) एक बार पृथ्वी पर किसी प्रकार जीवन का आविर्भाव हो जाने पर उससे तरह-तरह की जीव-योनियों का विकास बिना किसी बाहरी शक्ति के हस्तक्षेप के निष्पन्न हो सकता है; तथा (२) अधिकाधिक ऊंची योनियों के विकास की व्याख्या के लिए किसी चरमहेतु को मानना आवश्यक नहीं है, यह विकास 'प्राकृतिक चुनाव' अथवा 'योग्यतम की विजय' आदि यान्त्रिक नियमों

* दे० An outline of Modern knowledge, पृ० ३७

(Mechanical Principles) की सहायता से अपनी समग्रता में व्याख्येय है। डार्विन ने अपनी गवेषणाओं को प्राणिशास्त्र तक ही सीमित रखा था, उसमें दार्शनिक बनने की इच्छा न थी। किन्तु हर्बर्ट स्पेन्सर ने प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी विकासवाद को अधिक व्यापकरूप देकर एक दर्शन-पद्धति का निर्माण कर डाला। स्पेन्सर के दिये हुए विकास के फार्मूले का हम सांख्य के प्रकरण में ज़िक्र कर आये हैं। संक्षेप में, स्पेन्सर की विश्व-व्याख्या इस प्रकार है। प्रारम्भ में जड़ द्रव्य वायव्य (Gaseous) रूप में था। वह एकरस (Homogeneous) था, उसके अवयवों में संश्लेष (Coherence) का अभाव था, और उसमें किसी प्रकार की जटिलता (Complexity) न थी। धीरे-धीरे यह वायव्य द्रव्य घनीभूत होने लगा तथा उसकी जटिलता और उसके अवयवों में संश्लेष बढ़ने लगा। परिणाम सौरमण्डलों तथा तारों का प्रादुर्भाव हुआ। स्पेन्सर के अनुसार हमारा सौरमण्डल पहले एक वायव्य पुद्गल-पुञ्ज था। धीरे-धीरे उसके घनी-भाव और अवयव-संश्लेषण से सूर्य तथा अन्य ग्रह-उपग्रहों का विकास हुआ। (स्पेन्सर को लाप्लास की बताई हुई प्रक्रिया अभिमत थी।) इसके बाद धीरे-धीरे पृथ्वी के ठण्डे हो जाने पर उस पर जीवन का उदय हुआ और जीवन की प्रारंभिक एकरस अवस्था (Homogeneity) से विभिन्न जीवयोनियों का पृथक्करण (Differentiation) या विकास हुआ। प्राणधारियों की इन्द्रियों तथा अन्य अवयवों का विकास भी उपर्युक्त व्यापक नियम के अनुसार हुआ है। आदिम जीवाणुओं के शरीर में अवयवों तथा इन्द्रियों का प्रभेद नहीं था—अमीबा आदि क्षुद्र जन्तु शरीर के एक ही भाग से चलने-फिरने, छूने आदि का काम लेते थे। धीरे-धीरे विभिन्न अङ्गों और इन्द्रियों का, पृथक्करण-प्रक्रिया से, विकास हुआ जिसका सर्वोच्च रूप मनुष्य है। इसी प्रकार जन्तुओं में मस्तिष्क और चेतना का भी विकास हुआ है। स्पेन्सर अपने सिद्धान्त का प्रयोग सामाजिक संस्थाओं के विकास की व्याख्या में भी करता है। उसके अनुसार सभ्यता की प्रगति संस्थाओं एवं मानवी व्यवसायों (उद्यमों या पेशों) के

अधिकाधिक पृथक्करण की ओर है। आदि युग में एक ही मनुष्य किसान, बढ़ई और लुहार होता था, धीरे-धीरे यह व्यवसाय अलग हो गये। पहिले प्रत्येक गांव अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति आप कर लेता था, अब अमरीका और भारतवर्ष जैसे महादेश भी अपने को आवश्यक सामग्री की दृष्टि से पूर्ण (Self-Sufficient) नहीं पाते।

हेकेल

स्पेन्सर दीखने वाले विश्व के पीछे अन्तर्हित-तत्त्व को स्वीकार करता था, यद्यपि यह तत्त्व अज्ञेय है। किन्तु अध्यात्मवाद के प्रतिक्रिया स्वरूप वैज्ञानिक जड़वाद के दूसरे प्रचारकों ने किसी अज्ञेय तत्त्व के मानने से इन्कार कर दिया। जिन वैज्ञानिक जड़वादियों पर डार्विन का विशेष प्रभाव पड़ा उनमें अर्नस्ट हेकेल का नाम उल्लेखनीय है। उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग अन्त में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, 'संसार की पहेली' (The Riddle of the Universe) प्रकाशित की। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य हेकेल का एकवाद या अद्वैतवाद (Monism) है। विश्व की समस्त व्यक्तियां (Entities) अन्ततः एक ही प्रकार के तत्त्व का विकार हैं, अर्थात् पुद्‌गल का। पुद्‌गल-तत्त्व अनादि और शाश्वत है, उसका कोई स्रष्टा नहीं है। उसी से क्रमशः जीवन का विकास होता है, और जीवयोनियां विकसित होकर चेतन मनुष्य को जन्म देती हैं। पुद्‌गल के कुछ तत्त्व ऐसे हैं जिनमें जीवन का स्फुरण होता है। लाप्लास ने कहा था कि उसे सृष्टि का विकास दिखाने में कहीं ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ी। हेकेल का भी ऐसा मत था। वह कट्टर पुद्‌गला-द्वैतवादी था।

पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि विकासवाद का अर्थ उन्नति-वाद करना आवश्यक नहीं है। सांख्य और अरस्तू के प्रकरण में हम इस तथ्य की ओर संकेत कर चुके हैं। स्पेन्सर और डार्विन के अनुसार विकास-प्रक्रिया किसी लक्ष्य या प्रयोजनपूर्त्ति की ओर नहीं बढ़ रही है। विकासवाद और प्रयोजनवाद दो भिन्न सिद्धान्त हैं; विकासवादी जड़वादी भी हो सकता है—स्पेन्सर का झुकाव जड़वाद की ओर है; किन्तु प्रयोज-

नवाद अध्यात्मवाद से निकट सम्बन्ध रखता है। जैसा कि हमने कहा, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की जड़वादी पद्धतियां हीगल आदि के अध्यात्मवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशाब्दों में इस वैज्ञानिक जड़वाद के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया होने लगी और फिर अध्यात्मवाद का उत्थान हुआ। इस उत्तरकालीन अध्यात्मवाद का आधार मुख्यतः ज्ञानमीमांसा की समस्याएं हैं। उसका वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। अध्यात्मवाद की इन नूतन पद्धतियों ने विश्व की किसी उल्लेखनीय व्याख्या को जन्म नहीं दिया। व्यापकता और गम्भीरता दोनों की दृष्टि से ब्रेडले और क्रोचे की दी हुई विश्व की व्याख्याएं स्पिनोज़ा, लाइबनिज़ और हीगल की व्याख्याओं से तुलित नहीं की जा सकतीं। अति-आधुनिक काल में इस नूतन अध्यात्मवाद के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई है, उसका सम्बन्ध भी ज्ञानमीमांसा के प्रश्नों से है। विश्व प्रक्रिया की जो कतिपय व्याख्याएं हाल में प्रस्तुत की गई हैं उन पर विकासवाद और भौतिक विज्ञान, विशेषतः आइन्स्टाइन के अपेक्षावाद, का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यहां हम संक्षेप में विश्व की दो व्याख्याओं का उल्लेख करेंगे, एक बर्गसां का सृजनात्मक विकासवाद और दूसरा एलेक्ज़ेण्डर तथा लॉयड मार्गन का नव्योत्क्रान्तिवाद।

बर्गसां—सृजनात्मक विकास वाद

बर्गसां योरुपीय दर्शन में एक नई प्रवृत्ति का प्रतिनिधि है। ज्ञानमीमांसा में वह अनुभववादी है, और इस प्रकार योरुपीय मस्तिष्क की सामान्य प्रवृत्ति का विरोधी है। दूसरे, वह यन्त्रवाद (नियतिवाद) तथा प्रयोजनवाद दोनों का समान रूप से आलोचक है। वह डार्विन आदि के विकासवाद को भी उसके मौलिकरूप में स्वीकर नहीं करता। हेराक्लाइटस की भांति बर्गसां विश्व-तत्त्व को गति और प्रवाहमय मानता है। विश्व-तत्त्व का प्रधान धर्म सतत गति अथवा अनवरत परिवर्त्तन है। नियतिवाद और प्रयोजनवाद दोनों ही काल संक्रमण (Duration) को एक मिथ्या प्रतिभास बना देते हैं; दोनों के अनुसार विश्व-प्रक्रिया का

क्रम पहले से निश्चित है। * भेद यही है कि जहां नियतिवाद इस क्रम का निर्धारक अतीत कारणों को बतला है, वहा प्रयोजनवाद भविष्य के गर्भ में वर्तमान लक्ष्य या प्रयोजन को। दोनो की दृष्टि में विश्व-प्रक्रिया का कालभाव (कालिकता) अथवा कालसंक्रमण महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके विपरीत बर्गसां कालसंक्रमण को विश्व-प्रक्रिया का प्राण समझता है। विश्व-तत्त्व अथवा प्राणात्मा (Elan Vital) वस्तुतः काल संक्रमणात्मक है; वह सतत गतिमय या सृजनशील है।

प्राणात्मा की सृजनशीलता नितान्त उन्मुक्त या स्वच्छन्द है, वह न पीछे किसी कारण से निर्धारित होती है, न आगे किसी लक्ष्य से। वह नित्य नई नूतनताओं को सृष्ट कर रही है। विकास किसी एक ही दिशा में नहीं हुआ है; वह कम-से-कम तीन दिशाओं में हुआ है। एक का पर्यवसान वनस्पति जगत में हुआ है, दूसरी का पशुओं आदि की सहज प्रवृत्तियों (Instincts) में और तीसरी का मानव-बुद्धि में। प्राणात्मा का प्रवाह जब अवरुद्ध होता है तब पुद्गल की सृष्टि होती है। पुद्गल और बुद्धि एक ही स्रोत से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए बुद्धि पुद्गल का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर सकती है। बुद्धि अनुकूलीकरण (Adaptation) का यन्त्र है, वह यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं है। यथार्थ ज्ञान अनुभूति (Intuition) द्वारा प्राप्य है। बुद्धि प्रवाहमय विश्व-तत्व को स्थिर प्रदर्शित करती है। बुद्धिजन्य ज्ञान व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी है, वह यथार्थ नहीं है। विकास की अनेक दिशाएं उसकी अप्रयोजनता, लक्ष्य-निरपेक्षता, सिद्ध करतीं हैं।

नव्योत्क्रान्तिवाद

नव्योत्क्रान्तिवाद (Emergent Evolution) विश्व की विकासवादी व्याख्या है। वह नूतनताओं के आविर्भाव को समझाने की चेष्टा करता है। एलेक्ज़ेण्डर के अनुसार मूलतत्त्व चतुर्दिक् (Four-dimensional) देश-काल है, जिसमें विन्दुक्षण (Point-instants) निर्देशित किये जा सकते हैं। देश और काल अलग-अलग नहीं हैं, वर्त्तमान विज्ञान की

* दे० Creative Evolution, Ch.।

भांति एलेक्ज़ेण्डर उन्हें एकात्मक मानता है। देश-काल और शुद्ध गति एक ही बात है। जैसे-जैसे देश-काल का विकास होता है वैसे-वैसे उसमें नूतन गुणों की उत्क्रान्ति या आविर्भाव होता जाता है। उदाहरण के लिए कुछ काल बाद जड़त्व (Materiality) गुण उत्पन्न होता है, और फिर विशेष दशाओं में रूप, रस आदि गुण। इसी प्रकार जीवन और चेतना का आविर्भाव होता है। इस समय चेतना विश्व-प्रक्रिया का सर्वोच्च गुण है, किन्तु इससे ऊंचे गुणों का भी आविर्भाव होगा। इन गुणों को समष्टि रूप में एलेक्ज़ेण्डर "दैवतभाव" (Deity) कहता है। विश्व-प्रक्रिया की गति दैवतभाव (ईश्वरता) की ओर है। मनुष्य किसी की उपासना करना चाहता है, अपने से उच्च सत्ता में लीन होना चाहता है, यही दैवतभाव या ईश्वरत्व की सम्भावना का प्रमाण है। हमारा कर्त्तव्य इस दैवत-भाव की ओर प्रगति को प्रोत्साहित करना या उसमें सहायता देना है।

तुलनात्मक दृष्टि

इस अध्याय में हमने पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों में दी गई विश्व की उल्लेखनीय व्याख्याओं पर दृष्टिपात करने की चेष्टा की है। विश्व की व्याख्या करने से पहिले दार्शनिक-विशेष का विश्व से परिचय होना आवश्यक है। किन्तु मानवी अनुभव में विश्व-ब्रह्माण्ड सदा एक ही आयाम या आयतन का नहीं रहता, उसकी परिधि बढ़ती रहती है। एक समय था जब मनुष्य को भूमण्डल का भी पूरा ज्ञान न था, आज कोलम्बस आदि की भौगोलिक खोजों ने ही नहीं, अणुवीक्षण और दूरवीक्षण यन्त्रों के आविष्कार ने भी, हमारे अनुभव की परिधि को अतिशय विस्तृत कर दिया है। डार्विन के विकासवाद ने जीव-जगत् सम्बन्धी धारणाओं को बहुत कुछ प्रभावित किया है। इसी प्रकार आधुनिक मनुष्य के सामने अपेक्षाकृत अधिक लम्बा-चौड़ा ऐतिहासिक अतीत है, और वह मानव-सभ्यता की प्रगति के बारे में यूनानी और प्राचीन भारतीय दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक चिन्तन-सामग्री पा सकता है। अभिप्राय यह है कि विज्ञान आदि की उन्नति अथवा अनुभव-वृद्धि के साथ

मनुष्य के ज्ञात विश्व, अथवा उसकी कल्पना को स्पर्श करने वाले ब्रह्माण्ड की सीमाएं भी बढ़ती जाती हैं, और इस वर्धिष्णु अनुभव-जगत् की पुरानी व्याख्याएँ भी असन्तोषजनक हो जाती हैं एवं नवीन व्याख्याओं की आवश्यकता महसूस होती है। दर्शन के इतिहास में नितान्त नवीन विश्व-व्याख्याओं के प्रतिपादित होने का समय प्रायः नवीन अनुभव-क्षेत्रों के अनुसंधान का समय रहा है। द्रव्यान्तरत्व, जीव-विकास, फ्रायड का विश्लेषणात्मक मानस-शास्त्र जैसे अन्वेषण मानव-जाति के चिन्तन में हलचल पैदा करने वाले होते हैं, और उनका दार्शनिक प्रगति पर निश्चित प्रभाव पड़ता है।

इसलिए, हमें यह देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि योरुपीय दर्शन ने भारतीय दर्शन की अपेक्षा विश्व की अनेक एवं विविध व्याख्याओं को जन्म दिया। इसका प्रधान कारण योरुप में विज्ञान तथा ऐतिहासिक खोजों का उदय ही है। प्राचीनकाल में भारतीय दर्शन अनवरत उन्नति करता रहा, किन्तु कुछ काल बाद, यवनों का आक्रमण होने पर, यहा पर सब प्रकार की विचार-धाराओं का वेग कम पड़ गया, और अनुभव-जगत् में नवीन-तत्त्वो का समावेश होना बन्द होगया। परिणाम भारतीय चिन्ता-प्रवाह का सब ओर से अवरोध हुआ। यदि भारत स्वतन्त्र रहता तो सम्भवतः यहां भी लौकिक अभिरुचि (Secular interest) शिथिल न पड़ती तथा भौतिकविज्ञान का अभ्युदय सम्भव होता। किन्तु राजनैतिक पराधीनता ने भारतीय हिन्दुओं को लौकिक सुखों से विरक्त और परलोकान्वेषी तथा यहां के दार्शनिकों को मोक्षकामी बना दिया, जिसके कारण उनके जीवन का ध्येय आत्म-ज्ञान बन गया और भौतिक विज्ञान की उपेक्षा होने लगी। इसीलिए हम पाते हैं कि जहां वैशेषिक और सांख्य ने विश्व की साहसपूर्ण व्याख्याएं प्रस्तुत कीं, वहां बाद के दार्शनिक इस ओर से उदासीन हो गए। शङ्कर, वाचस्पति, उदयन और रामानुज आदि के बाद, जिन्होंने प्राचीन पद्धतियों को पूर्णरूप देने के अतिरिक्त अनेक मौलिक सिद्धान्तों का भी आविष्कार किया, भारत में मौलिक विचारक उत्पन्न होना प्रायः बन्द हो गया और विद्वान् पण्डित अनुयायी बने रहने

में अपने को धन्य समझने लगे। योरुप की भांति यहां भौतिक विज्ञान का उदय नहीं हुआ, जिससे भारत की अनुभव-परिधि में विस्तार होता। अतएव विश्व की प्राचीन व्याख्याओं के प्रति असन्तोष भी नहीं जगा।

हम कह चुके हैं कि साख्य की व्याख्या मुख्यतः विश्व की यान्त्रिक व्याख्या है, उसका प्रचुर हेतु प्रकृति की चंचलता एवं कार्य-कारणभाव का शासन है। किन्तु साख्य दर्शन प्राकृतिक विकास को सप्रयोजन भी मानता है—प्रकृति का विकास पुरुष को मुक्त करने के लिए है। साख्य की प्रकृति जिस लक्ष्य को लेकर प्रवर्त्तित होती है वह स्वयं उसका उद्दिष्ट नहीं है, उसका फलभोगी पुरुष है। इसीलिए तो साख्य का प्रयोजनवाद अपूर्ण लगता है। विश्व-प्रक्रिया का उद्देश्य अपने से भिन्न पुरुष में यह ज्ञान उत्पन्न करके कि वह विश्व-जगत् से भिन्न है, उसे मुक्ति दिलाना है, यह सिद्धान्त कुछ विचित्र लगता है। साख्य की प्रकृति परोपकारिणी हो सकती है, प्रयोजनान्वेषिणी नहीं। साख्य की तुलना में योरुप की विभिन्न प्रयोजनवादी पद्धतिया कहीं अधिक प्रौढ़ हैं।

किन्तु यन्त्रवाद की दृष्टि से सांख्य दर्शन में आश्चर्यजनक पूर्णता और आधुनिकता है, वह वर्त्तमान भौतिक-विज्ञान के काफी समीप है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि डार्विन से पहिले के दर्शनों (अरस्तू, सांख्य, लाइबनिज़ आदि) में विकास की धारणा परिपक्व नहीं है। किन्तु विश्व-प्रक्रिया उन्नति की ओर अग्रसर हो रही है, यह विश्वास हीगल में पूर्णरूप में वर्त्तमान है। भारतवर्ष में यह विश्वास कभी प्रचलित नहीं हुआ, और, महायुद्ध के बाद,योरुपीय विचारक भी 'उन्नति की अनिवार्यता' में विश्वास खोने लगे हैं। वर्त्तमान महायुद्ध के बाद सम्भवतः उक्त विश्वास के ध्वंसावशेष भी अन्तर्हित हो जायगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां योरुप में प्रयोजनवादी, यन्त्रवादी एवं विकासवादी तीन प्रकार की विश्व-व्याख्याएं प्रस्तुत की गईं वहां भारतीय दर्शन में इस प्रकार की विविधता नहीं पाई जाती। इस दृष्टि से योरुपीय दर्शन भारतीय दर्शन से काफी आगे रहा है।

: ४ :

अध्यात्मवाद

प्रारंभिक

पिछले अध्याय में हमने जिन दर्शन-पद्धितयों का उल्लेख किया है उनमें से कुछ अध्यात्मवादी (Idealistic) पद्धतियां कहलाती हैं। प्लेटो, स्पिनोज़ा, लाइबनिज़ और हीगल विश्व के अध्यात्मवादी व्याख्याता हैं। इनके अतिरिक्त काण्ट, फिच्टे, शेलिङ्ग, शोफेन हावर, ब्रैडले, क्रोचे आदि अनेक प्रसिद्ध योरुपीय दार्शनिक अध्यात्मवादी निर्दिष्ट किये जाते हैं। भारतवर्ष में प्रायः बौद्धों के दो सम्प्रदायों, विज्ञानवाद और शून्यवाद, तथा वेदान्त के कतिपय सम्प्रदायों की अध्यात्मवाद संज्ञा है। यह अध्यात्मवाद क्या है?

अध्यात्मवाद की परिभाषा

अध्यात्मवाद की परिभाषा करना सरल नहीं है। अपने ग्रन्थ 'भारतीय अध्यात्मवाद' (Indian Idealism) में डा० दासगुप्त लिखते हैं:— 'वर्त्तमान अध्यात्मवाद का, यद्यपि उसके व्याख्याताओं में बहुत मतभेद है, मुख्य मन्तव्य यह मालूम पड़ता है कि वस्तु-तत्त्व (विश्व का मूल-तत्त्व) चिदात्मरूप (Spiritual) है।'❀ प्रो० कैम्प स्मिथ के मत में 'वे सब पद्धतियां जिनके अनुसार विश्व-प्रक्रिया के दिशा-निर्धारण या नियमन में आध्यात्मिक मूल्यों का निश्चित हाथ रहता है'* अध्यात्मवादी हैं। किन्तु प्रो० ईविंग को कैम्प स्मिथ की परिभाषा में अतिव्याप्ति दीखती है। उनके अनुसार अध्यात्मवादी दर्शनों का समान्य सिद्धान्त यह है कि 'कोई भौतिक पदार्थ (चेतन) अनुभव के बाहर नहीं रह सकता।'* एक दूसरे लेखक के शब्दों में 'अध्यात्मवाद वह दार्शनिक सिद्धांत है जिसके अनु-

❀ पृ० २०

* Idealism: A Critical Survey, पृ० २ में उद्धृत

* वही, पृ० ३

सार जड़तत्त्व अथवा देशकाल-गत घटना-समष्टि के यथार्थरूप पर विचार करतेसमय उसके साथ आत्मतत्त्व पर, जो किसी अर्थ में उसका आधार है, विचार करना अनिवार्य हो जाता है।' अन्तिम दो परिभाषाओं का अभिप्राय यह है कि आत्मतत्त्व की कल्पना के बिना जड़-जगत् अधूरा रहता है।

उक्त तीनों ही परिभाषाएं विशिष्ट दृष्टिकोणों से ठीक हैं, किन्तु तीनों साथ-साथ किसी भी अध्यात्मवादी दर्शन को कठिनता से लागू होंगी। बात यह है कि जहां अध्यात्मवादी दर्शनों में समानताएं हैं, वहां विषमताएं भी हैं। विशेषतः जब हम योरुपीय अध्यात्मवाद की तुलना करने लगते हैं, तो उनमें काफी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

वस्तुतः ऊपर की तीन परिभाषाएं अध्यात्मवादी दर्शनों के तीन प्रकारों या श्रेणियों का वर्णन देती हैं। प्रो० कैम्प स्मिथ की परिभाषा उन पद्धतियों को विशेष रूप से लागू होती है जिन्हें हम विश्व की प्रयोजनवादी व्याख्याएं अभिहित कर आये हैं। इन दर्शनों के अनुसार विश्व-प्रक्रिया निरुद्देश्य या निष्प्रयोजन नहीं है, वह आध्यात्मिक मूल्यों, आध्यात्मिक-पूर्णता, के लाभ (Realization) या प्राप्ति के लिए है—विश्व-प्रक्रिया क्रमशः पूर्णत्व की ओर अग्रसर हो रही है। प्लेटो और हीगल की पद्धितियां इस अर्थ में अध्यात्मवादी हैं; अरस्तू और लाइबनिज़ भी इस प्रकार के अध्यात्मवाद के प्रचारक कहे जा सकते हैं। अध्यात्म-जगत् में जिसे मूल्यवान् समझा जाता है, जैसे सत्य, सौन्दर्य और नैतिक पवित्रता, उनके प्रति विश्व-प्रक्रिया उदासीन नहीं है। यह आध्यात्मिक मूल्य विश्व-प्रक्रिया को प्रभावित अथवा निर्धारित करते हैं।

डा० दासगुप्त की परिभाषा भारतीय अध्यात्मवाद को विशेष रूप से लागू होती है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार केवल आत्मा या ब्रह्म ही तात्त्विक पदार्थ है, विश्व-प्रपञ्च मिथ्या या अतात्त्विक है। विज्ञानवाद और शून्यवाद इन दोनों के अनुसार भी प्रपञ्च मिथ्या है; विज्ञानवाद विज्ञान-प्रवाह को ही सत्य मानता है। बर्कले का भी ऐसा ही मत है।

तीसरी परिभाषा योरुपीय अध्यात्मवाद के आधुनिक, विशेषतः ब्रिटिश, रूप को लागू होती है। ब्रेडले, बोसांक्वेट आदि का अध्यात्मवाद, जिस पर क्रमशः काण्ट और हीगल का विशेष प्रभाव पड़ा है, और जो बर्कले के आत्मपाती अध्यात्मवाद (Subjective Idealism) का विरोधी है, इस परिभाषा का प्रधानरूप से लक्ष्य है।

तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि अध्यात्मवाद के उपर्युक्त विभिन्नरूपों में कोई भी सामान्य तत्त्व नहीं है। अधिकांश अध्यात्मवादी देश-काल में प्रसरित जगत् को कम तात्त्विक या अतात्त्विक मानते हैं। इस दृष्टि से प्लेटो और वेदान्त अधिक समीप हैं। वेदान्त के अनुसार विश्व-प्रपञ्च ब्रह्म का विवर्त्त या आभास मात्र है; प्लेटो के अनुसार भी दृश्यमान जगत् वस्तु-जगत् की छाया मात्र है। प्लेटो और वेदान्त दोनों ही तात्विकता के दर्जे (Degrees) नहीं मानते, यद्यपि दोनों यह स्वीकार करते हैं कि विश्व की व्यक्तियों में तत्त्व पदार्थ कहीं कम और कहीं अधिक अभिव्यक्त होता है,* फिर भी वे लाइबनिज़, हीगल और ब्रेडले के भी समान यह विश्वास नहीं प्रकट करते कि क्रमशः कम और अधिक तात्त्विक पदार्थ एक तारतम्यात्मक श्रेणी (Graded Series) बनाते हैं। लाइबनिज़ के चिद्-विन्दु और हीगल की धारणाएं स्पष्ट ही तात्त्विकता (Reality) के विभिन्न दर्जों की द्योतक हैं; ब्रेडले भी विश्व-विवर्त्तों के तात्त्विकता के क्रम से व्यवस्थित (Arrange) किये जाने की आवश्यकता और सम्भावना स्वीकार करता है, यद्यपि वह स्वयं ऐसा करने में असमर्थ रहा है। किन्तु प्लेटो और शङ्कर ने इस प्रकार के प्रयत्न को कभी वांछनीय नहीं समझा।

* शंकर कहते हैं—प्राणीत्वा विशेषेऽपि मनुष्यादि-स्तम्ब पर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादि प्रतिबन्धः परेण परेण भूयान् भवन् दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्य गर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवति इत्यादि—ब्रह्मसूत्र भाष्य, १ । ३ । ३ । प्लेटो ने "सिम्पोज़ियम" नामक संवादग्रन्थ में यह मत प्रकट किया है कि पदार्थ न्यूनाधिक सुन्दर हैं, क्योंकि वे सौंदर्य-प्रत्यय का न्यूनाधिक अंशभोग करते हैं।

वेदान्त और पश्चिमी अध्यात्मवाद की भांति बौद्ध अध्यात्मवादी भी प्रपञ्च को अतात्त्विक मानते हैं। जिस प्रकार हीगल और ब्रेडले ने अनुभव-जगत् की धारणाओं अथवा व्यक्तियों (Entities) को विरोधग्रस्त कथित किया है, उसी प्रकार नागार्जुन भी विश्व के पदार्थों को सारहीन घोषित करता है।

तात्त्विक और अतात्त्विक अथवा तत्त्व और आभास (Reality and Appearance), का भेद, पारमार्थिक और व्यावहारिक (बौद्ध सम्वृति) अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष सत्यों का विभाग, तथा वर्त्तमान से ऊंची व्यक्ति अथवा विश्व की दशा में विश्वास--यह सिद्धान्त अध्यात्मवाद के पूर्वी और पश्चिमी प्रायः सभी रूपों में समान है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पूर्वी और पश्चिमी अध्यात्मवाद की पद्धतियों में महत्त्वपूर्ण भेद नहीं है। यहां हम इन भेदों की सकारण व्याख्या देने का प्रयत्न करेंगे, किन्तु उससे पहले कुछ स्पष्ट दीखने वाली समानताओं पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

विज्ञानवाद और बर्कले

दोनों में समानता स्पष्ट है। अनुभववादी बर्कले लॉक के इस मन्तव्य को लेकर चलता है कि हमें साक्षात् जिन वस्तुओं का ज्ञान होता है वे हमारे अपने प्रत्यय (Ideas) या विज्ञान हैं। लॉक ने कहा था कि इन प्रत्ययों का कारण बाह्य जगत् के जड़ात्मक द्रव्य हैं। किन्तु बर्कले इन जड़ द्रव्यों को मानने से इन्कार करता है। लॉक के जड़ द्रव्य का तो हमें कभी प्रत्यय ही नहीं होता, फिर उसे मानना अनावश्यक है। प्रत्ययों का कारण ईश्वर को माना जा सकता है। इसलिये आत्मा और उसके प्रत्यय यही दो वास्तविक हैं, जड़-जगत् की सत्ता नहीं है। विज्ञानवादी भी विज्ञानों के अतिरिक्त बाह्य जगत् का अस्तित्त्व मानने से इनकार करते हैं। विश्व की सारी वस्तुएं चित्त का विकार अर्थात् मनोमय हैं। लॉक की भांति सौत्रान्तिक बौद्धों ने भी कहा था कि हमें साक्षात् अनुभव विज्ञानों का होता है तथा बाह्य पदार्थ अनुमेय हैं। किन्तु विज्ञानवाद का आधार केवल प्रत्यय-प्रतिनिधित्ववाद (Representative Theory of Perception) ही नहीं है। विज्ञान-

वादियों ने अपने सिद्धांत के पक्ष में दूसरी युक्तियां भी दी हैं। यदि स्वप्न में बाह्य पदार्थों की उपस्थिति के बिना विविध वस्तुओं की अनुभूति हो सकती है तो जाग्रतावस्था में क्यों नहीं? अनुभवों की विविधता ज्ञानगत भेदों के बिना नहीं हो सकती, स्तम्भज्ञान, घटज्ञान, पटज्ञान आदि एक-दूसरे से अलग हैं। यदि ज्ञानगत भेदों या विशेषों को अंगीकार करने से काम चल सकता है तो फिर वाह्य पदार्थों की कल्पना व्यर्थ है। दूसरे, क्योंकि नील रंग और नील-बुद्धि का एक साथ ग्रहण (सहोपलम्भ) होता है इसलिए उन दोनों को अभिन्न मानना चाहिए। अनादि संसार में अनादि वासना के वशीभूत होकर, प्रतीत्य समुत्पाद के अखण्ड नियमानुसार हम सब तरह के प्रत्ययों का अनुभव करते हैं, इस प्रत्यय-प्रवाह से भिन्न कोई वाह्य जगत् नहीं है। विज्ञानवादियों ने वाह्य जगत् की सत्ता के विरुद्ध एक तीसरी युक्ति भी दी है, वाह्य पदार्थों को मानना विरोधग्रस्त है। वाह्य पदार्थ न परमाणु हो सकते हैं न परमाणुपुञ्ज। यदि वे परमाणुरूप हैं तो उनका प्रत्यक्ष न होना चाहिए—हमें कभी परमाणुओं का आभास होता भी नहीं। और यदि उन्हें परमाणुपुञ्ज कहा जाय, तो भी नहीं बनती; क्योंकि तब यह निरूपण करना कठिन हो जायगा कि वस्तुएं परमाणुओं से भिन्न हैं या अभिन्न। अभिप्राय यह है कि वाह्य पदार्थों की कल्पना अयुक्त है।*

यद्यपि बर्कले और विज्ञानवाद के निष्कर्षों में विशेष भेद नहीं है, फिर भी उनकी युक्तियां तथा 'स्पिरिट' काफी भिन्न है। बर्कले के प्रत्ययवाद का आधार डेकार्ट और लॉक का प्रत्ययप्रतिनिधित्ववाद एवं मध्ययुग के कुछ दार्शनिकों का नामवाद (Nominalism) है। किन्तु विज्ञानवादियों ने कई तरह की युक्तियां दी हैं, जिनमें नागार्जुन और ब्रेडले का युक्तिवाद (Dialectic) भी सम्मिलित है। एक दृष्टि से विज्ञानवादी बर्कले की अपेक्षा अधिक संगत थे, उन्होंने आत्मा और ईश्वर को नहीं माना। अनुभव केवल रूप, रस आदि चेतनाप्रवाह को उपस्थापित करता

* दे० ब्रह्मसूत्र, शां० भा० २।२।२८

है, स्थिर आत्मतत्त्व का अनुभव किसी को नहीं होता। ईश्वर भी अनुभवसिद्ध नहीं है। वस्तुतः बर्कले ने आत्मा और ईश्वर को धार्मिक कारणों से मान लिया था, न कि दार्शनिक आधार पर। बर्कले और विज्ञानवाद का तीसरा भेद यह है कि विज्ञानवाद का उद्देश्य बाह्य जगत् को अस्तित्वहीन घोषित करके साधक या जिज्ञासु में उसके प्रति वैराग्यभावना उत्पन्न करना है। यहां यह भी याद रखना चाहिए कि विज्ञानवाद के कतिपय प्राचीन विचारकों, जैसे अश्वघोष ने विज्ञान प्रवाह के आधारभूत एक स्थिर तत्त्व में भी विश्वास प्रकट किया था। अश्वघोष ने इस तत्त्व को भूततथता नाम दिया था।❀ "लङ्कावतारसूत्र" में इसी अर्थ में आलय विज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है, कहीं-कहीं उसे शून्यता एवं तथागत गर्भ नाम से पुकारा गया है, किन्तु 'लङ्कावतार सूत्र' इस प्रकार के तत्त्व में वस्तुतः विश्वास नहीं रखता, रावण के पूछने पर वहां बुद्ध जी कहते हैं कि दूसरे मतों के लोगों को आकर्षित करने के लिए ही कभी-कभी एक स्थिर तत्त्व की कल्पना करनी पड़ जाती है।* याद रखने की बात यह है कि विज्ञानवाद में बाह्य-जगत् के अस्तित्व-निषेध का एक नैतिक प्रयोजन है।†

नागार्जुन और ब्रेडले

हमने ऊपर कहा कि बाह्यजगत् की यथार्थता के विरुद्ध विज्ञानवादियों

❀ दे० इण्डियन आइडियलिज़्म, पृ० ८०

* वही, पृ० १०१, १०३ तथा हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फ़िलासफी, (दासगुप्त), भाग १.

† "श्लोकवार्त्तिक" में कुमारिल कहता है कि बुद्धने ने विश्व के मिथ्यात्व का उपदेश लोगों में संसार के प्रति विरक्ति जगाने को किया था (दे० Bibliotheca Indica सं० पृ० १४२; "अद्वैतसिद्धि" के उप टीकाकार बेट्ठलेशोपाध्याय ने ऐसा ही मत अद्वैत वेदांत के मिथ्यात्ववाद, पर प्रकट किया है। (दे० न्यायामृता द्वैतसिद्धी, कलकत्ता सं० सी०, भूमिका पृ० ७७)

की एक युक्ति यह भी है कि बाह्यजगत् की कल्पना विरोधग्रस्त है। ब्रेडले और नागार्जुन ने बाह्य और आन्तर विश्व की सारी व्यक्तियों के विरुद्ध इस प्रकार के युक्तिवाद का प्रयोग किया है। ब्रेडले का कथन है कि तत्त्व-पदार्थ को निर्विरोध अथवा समञ्जस होना चाहिए। हमारी द्रव्य, गुण, सम्बन्ध, देश, काल परिवर्त्तन, कार्यकारणभाव, आत्मा आदि की धारणाएं आदि से अन्त तक विरोधग्रस्त हैं, वे विचार का सहन नहीं कर सकतीं, बुद्धि की परीक्षा में फेल हो जाती हैं, इसलिए यह सब धारणाएं अथवा उनके विषयभूत पदार्थ अतात्त्विक हैं। ब्रेडले ने 'विरोध' का लक्षण करने की कहीं चेष्टा नहीं की है और उसका प्रयोग किसी भी बौद्धिक कठिनाई के अर्थ में कर डाला है। ब्रेडले की भांति ही नागार्जुन ने भी बौद्धिक-धारणाओं की समीक्षा की है। वह भी धारणाओं और पदार्थों को बुद्धविरोधी एवं अतात्त्विक कथन करता है। किन्तु उसकी तर्कप्रणाली ब्रेडले से कुछ भिन्न है। विरोधग्रस्त के बदले वह वस्तुओं को निःस्वभाव कहना अधिक पसन्द करता है। ब्रेडले के ग्रन्थ में अक्सर 'एक' और 'अनेक' के भेद को विरोध कहा गया है।❀ 'यदि विशेषण विशेष्य से अभिन्न होता है, तो वह व्यर्थ है; और यदि वह विशेष में उससे भिन्न वस्तु का आरोप करता है, तो वह मिथ्या है।' ब्रेडले के अनुसार यह कठिनाई आत्म-विरोध है।* 'सम्बन्ध की धारणा के बिना गुण समझ में नहीं आते, सम्बन्ध को साथ लेकर भी गुण बुद्धिगम्य नहीं बनते इसलिए गुण की धारणा विरोधग्रस्त है।† ब्रेडले ने इसी प्रकरा सम्बन्ध, गति आदि की भी समीक्षा की है।

नागार्जुन का तर्कना-प्रकार भिन्न है। वह विश्व के पदार्थों को शून्य कहता है। हिन्दू दार्शनिकों ने शून्य का सीधा कोशगत अर्थ 'अभाव'

❀ दे० Pringle Pattison, Man's Place in the Cosmos, पृ० १०० तथा आगे

* Appearance and Reality, पृ० १७

† वही, पृ० २५

लिया है। किन्तु प्रायः सब आधुनिक विद्वान् यह मानते हैं कि नागार्जुन के शून्य का कुछ और अर्थ है। नागार्जुन यह नहीं कहता कि विश्व के पदार्थों का अस्तित्व नहीं है; वह सिर्फ यह कहता है कि यह पदार्थ निस्सार या निःस्वभाव हैं। 'नागार्जुन का सिद्धान्त यह है कि सब वस्तुएं सापेक्ष अतएव अपने में अनिर्वाच्य अथवा लक्षण करने के अयोग्य हैं, उनके स्वभाव को खोज निकालना असम्भव है; और, क्योंकि उनका स्वभाव अलक्ष्य (Indefinable) और अवर्ण्य ही नहीं अपितु अज्ञेय है, इस लिए कहना चाहिए कि वे स्वभावशून्य हैं।'※ सुजुकी कहता है कि 'वस्तुओं की शून्यता का अर्थ यही है कि वे कारणों पर निर्भर करती हैं और अनित्य होती हैं।'* डा० शर्वात्स्की ने शून्य का अनुवाद आपेक्षिक या अनित्य तथा शून्यता का सापेक्षता या अनित्यता किया है।† कोई वस्तु अपने में पूर्ण नहीं है, प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुओं पर निर्भर करती है, अर्थात् सापेक्ष है। 'जो कारणों या हेतुओं से उत्पन्न हुआ है उसे हम शून्यता कहते हैं' (या प्रतीत्य समुत्पादा शून्यतां ता प्रचक्ष्महे—मूल्य मध्यमक कारिका, २४। १८)। मतलब यह है कि 'स्वभाव' का अस्तित्त्व उसी वस्तु में माना जा सकता है जो हेतुओं या कारणों से रहित है। किन्तु विश्व में इस प्रकार का कोई पदार्थ अपने व्यक्तिगत अकेलेपन में व्याख्येय नहीं है, इसलिए अशेष विश्व शून्यरूप है।

ऊपर के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि ब्रेडले और नागार्जुन की तर्क-प्रणालियों में कोई समानता नहीं है। किन्तु यह सर्वथा ठीक नहीं है। ब्रेडले ने यद्यपि आपेक्षिकता (Relativism) शब्द का स्पष्टरूप में प्रयोग नहीं किया है, फिर भी वह विरोधग्रस्तता और आपेक्षिकता में असामञ्जस्य या असंगति नहीं देखता। विश्व के विवर्त्तों या प्रतिभासों (Appearances)

※ दास गुप्त, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भाग २, पृ० १६३-६४

* Outlines of Mahayana Buddhisms. p. 173.

† The Conception of Buddhist Nirvana, p. 42,

के बारे में वह अक्सर यह कहता है कि उन में विषम या खरदरे कोने (Rugged Edges) होते हैं, और वे अपने से बाहर या परे की ओर संकेत करते हैं। कहीं-कहीं तो उसने नागार्जुन की 'आपेक्षिकता' का प्रयोग भी कर डाला है। एक जगह वह कहता है, 'संक्षेप में तत्व पदार्थ में आपेक्षिकता और आत्मातिक्रमण (Relativity and self-Transcendence) नहीं हो सकते।' * ठीक यह मत नागार्जुन का है। नागार्जुन और ब्रेडले दोनों के अनुसार विश्व की व्यक्तियां अतात्त्विक और अबुद्धिगम्य हैं।

यहां तक नागार्जुन और ब्रेडले में समानता है किन्तु दोनों की पद्धतियों में गम्भीर भेद भी हैं। नागार्जुन तात्त्विकता के दर्जे (Degrees) नहीं मानता, जबकि ब्रेडले के अनुसार विश्व के पदार्थ कम और अधिक तात्त्विक हैं। यह मानना पड़ेगा कि तात्त्विकता के दर्जों का सिद्धान्त ब्रेडले के युक्तिवाद (Dialectic) का आवश्यक परिणाम नहीं है। यदि वस्तुओं की विरोधग्रस्तता न्यूनाधिक नहीं है, यदि सब धारणाएं और पदार्थ समानरूप से विरोधग्रस्त हैं, तो फिर उनमें न्यूनाधिक तात्त्विकता कैसे हो सकती है? ब्रेडले कहता है कि वस्तुओं में न्यूनाधिक सामञ्जस्य या संगति (Harmony, Self-Consistency) है, इसलिए उनमें न्यूनाधिक तात्त्विकता है। किन्तु वह यह नहीं बतलाता कि इस सामञ्जस्य या व्यक्तिभाव (Individuality) का माप किस प्रकार किया जाय।

क्या अतात्त्विक जगत् के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व भी है? कुछ विद्वानों की सम्मति है कि नागार्जुन अक्षरशः शून्यवादी है और किसी तात्त्विक पदार्थ के अस्तित्त्व में विश्वास नहीं रखता। किन्तु नागार्जुन वे

* वही, पृ० २०१, यहां ब्रेडले के कुछ वाक्य मननीय हैं, यथा—

And it is the inconsistency, and hence the self-transcendence of time which here we are urging (p, 185)............And the self transcendent character of the 'this' is, on all sides, open and plain (p, 201),

अधिक सहानुभूतिपूर्ण व्याख्याकार इस व्याख्या से असहमत हैं। वस्तुतः नागार्जुन आपेक्षिक विश्व-प्रपञ्च के अतिरिक्त एक निरपेक्ष-तत्त्व को भी मानता था, पर वह इस तत्त्व को निर्वाच्य या वर्णनीय नहीं समझता था। मूलमध्यमककारिका के आरम्भ में ही हम पढ़ते हैं:—

अनिरोधमनुत्पाद मनुच्छेदमशाश्वतम् ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥

अर्थात् चरमतत्व नाशहीन और उत्पत्ति-रहित है; वहां न उच्छेद है न नित्यता; वह अनेकार्थक है और अनेकार्थक नहीं भी है; उसमें न आना होता है न जाना। कभी-कभी नागार्जुन अतात्त्विक जगत् की भाति तत्त्वपदार्थ को भी शून्य कहता है। कहीं वह यह भी कहता है कि विश्व तत्त्व को वस्तुतः न शून्य कह सकते हैं न अशून्य, न उभय न अनुभय; विश्व-तत्त्व वस्तुतः अकथ्य है, दूसरों को समझाने के लिए ही कुछ कहना पड़ता है,

शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत् ।
उभयन्नोभयञ्चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥

विश्व की सारी वस्तुएं आपेक्षिक और अनित्य हैं, इसलिए नागार्जुन कह सकता था कि विश्व-तत्व अथवा तत्व-पदार्थ निरपेक्ष और नित्य है। किन्तु इसके बदले वह विश्व-तत्त्व को वाणी से परे बतलाता है। इस प्रकार के विश्व-तत्त्व को कैसे **समझा** जाय अथवा **प्राप्त** किया जाय यह नागार्जुन नहीं बतलाता। उसकी शिक्षा इतनी ही है कि दृश्यमान जगत् को सारहीन समझ कर उससे विरक्त होना चाहिए। जैसा कि हम आगे देखेंगे वेदान्त की विशेषता इसमें है कि वह अतात्त्विक प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार से तात्त्विक ब्रह्म तक पहुंचने का मार्ग बताने की चेष्टा करता है।

नागार्जुन की अपेक्षा ब्रेडले का तत्त्व-पदार्थ-विषयक मत अधिक भावात्मक है। तत्त्व पदार्थ को निर्विरोध होना चाहिए, इस कथन को भावात्मकरूप देते हुए ब्रेडले कहता है कि तत्त्व-पदार्थ समञ्जसरूप है, वह एक ऐसा

अवयवी (Whole) है जिसके अवयवों में पूर्ण पारस्परिक संगति है। यही नहीं, ब्रेडले यह भी कहता है कि तत्त्व-पदार्थ अनुभूतिरूप हैं। 'अन्ततः कोई वस्तु तात्त्विक नहीं हो सकती जो कभी अनुभव का विषय नहीं होती और मेरे लिए वह कुछ भी तात्त्विक नहीं हो सकता जिसका मैं अनुभव नहीं करता।'* इसके साथ ब्रेडले यह भी कहता है कि अनुभव जगत्के सारे विवर्त्त या प्रतिभास (Appearances) ब्रह्म या विश्व-तत्त्व मे हैं। **'इन विवर्त्तों के अतिरिक्त ब्रह्म के पास और कोई सम्पत्ति** (Assets) नहीं है।' मतलब यह है कि यद्यपि स्वयं अपने में प्रत्येक प्रतिभास या विवर्त्त अतात्त्विक है, पर अपनी समग्रता में सब विवर्त्त मिलकर परब्रह्म के समञ्जसरूप का निर्माण करते हैं। इस प्रकार हीगल की भाति ब्रेडले भी विश्व-प्रक्रिया और परब्रह्म को समीकृत (Equate) कर देता है। नागार्जुन ने भी लिखा है कि अन्ततः संसार और निर्वाण (अर्थात् प्रपञ्च और तत्त्वपदार्थ या परब्रह्म) एक ही हैं।

न संसारस्य निर्वाणात्किञ्चिदस्ति विशेषणम्।
न निर्वाणस्य संसारात्किञ्चिदस्ति विशेषणम्।
न तयोरन्तरं किञ्चित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते।

मूलमध्यमककारिका, २५। १६, २०

श्रीयामाकामी सोगेन उक्त उद्धरण पर टीका करते हुए कहते हैं कि बौद्धदर्शन ने यह कभी नहीं सिखाया कि निर्वाण संसार से अलग होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसी जगत् के व्यवहारों को यदि हम एक दृष्टि से देखें तो वह बन्धनरूप प्रपञ्च है, और यदि दूसरी, पारमार्थिक दृष्टि से देखना सीख जांय तो वह तात्त्विक अथवा निर्वाणरूप है। यदि सोगेन की यह व्याख्या ठीक है, तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि ब्रेडले और नागार्जुन में विशेष भेद नहीं है। किन्तु साधारणतः इन दोनों दार्शनिकों का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों पर यह प्रभाव पड़ता है कि ब्रेडले का परब्रह्म नागार्जुन के शून्य से अधिक भावात्मक धारणा है।

* दे० Essays on Truth and Reality, पृ० १६०

वास्तव में, भारतीय अध्यात्मवाद की तुलना में, योरुपीय अध्यात्मवाद की यह विशेषता है कि वह किसी-न-किसी स्थान पर पहुंच कर अनुभव जगत् और तात्त्विक जगत्, प्रपञ्च और परब्रह्म की एकता या तादात्म्य घोषित कर देता है। भारतीय उपनिषदों में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है, उनमें भी जगह-जगह सप्रपञ्च-ब्रह्म का वर्णन है। वास्तव में उपनिषद् शाङ्कर वेदांत की भांति मायावाद के समर्थक नहीं हैं, वे जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं। 'उस ब्रह्म में पृथ्वी और अन्तरिक्ष तथा प्राणों सहित मन पिरोया हुआ है' (मुण्डक, २। २। ५) । 'अग्नि उसका सिर है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएं कान हैं, और वेद उसकी वाणी हैं; वायु उसका प्राण है, विश्व उसका हृदय, पृथ्वी उसके चरणों से उद्भूत हुई है और वह उसका अन्तरात्मा है।....उसी से समुद्र और पर्वत निकले हैं, उसी से अनेक रूप नदियां प्रसूवित होती हैं, उसी से सारी औषधियां और रस निकले हैं।') वही, २। १। ४,९)। किन्तु हीगल की भांति उपनिषद् यह नहीं मानते कि परब्रह्म विश्व-प्रक्रिया में अशेष हो जाता है। उनके मत में विश्व-प्रपञ्च परब्रह्म का एक अंशमात्र है। श्रुति कहती है—पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि, अर्थात् विश्व प्रपञ्च परब्रह्म का एक चरण है, उससे परे ब्रह्म के तीन अमृतमय चरण हैं। गीता में भी कहा है—विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्, अर्थात् भगवान् अपने एक अंश से सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके स्थित हैं। इसके विपरीत हीगल और ब्रेडले परब्रह्म को देश-काल में प्रसरित जगत् में अशेष हुआ मानते हैं। ब्रेडले के अनुसार परब्रह्म के विवर्त्तों के अतिरिक्त कोई सम्पत्ति नहीं है; और हीगल मानवजाति के इतिहास में, बढ़ती हुई सामाजिक और दार्शनिक चेतना में, परब्रह्म की उच्चतम अभिव्यक्ति देखता है।

यदि हम उपनिषदों को छोड़ दें, तो मानना पड़ेगा कि भारतीय अध्यात्मवाद का झुकाव ब्रह्म की निष्प्रपञ्चधारणा की ओर अधिक रहा है। नागार्जुन ने विश्व-जगत् की अतात्त्विकता की जितनी विषद और

विस्तृत व्याख्या की है, उसके अनुपात में तत्त्व पदार्थ के निरूपण में विशेष परिश्रम नहीं किया है। विशेषतः नागार्जुन तात्त्विक और अतात्त्विक के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में नितांत मौन है। यह मौन उसकी प्रपञ्च-विषयक मुखरता की तुलना में और भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है। संसार और निर्वाण को एक कहने से नागार्जुन का क्या तात्पर्य है, यह समझना कठिन है। पर यह निश्चित मालूम पड़ता है कि नागार्जुन विश्व-प्रपञ्च को तत्त्व-पदार्थ की तात्त्विकता का **वाहक** या **अभिव्यञ्जक** नहीं समझता। हीगल की अपेक्षा ब्रेडले का दृष्टिकोण भी अभावात्मक (Negative) है, यद्यपि वह योरुपीय अध्यात्मवादी परम्परा के प्रभाव से परब्रह्म को विवर्तों की समष्टि कहता है। शाङ्कर वेदान्त भी विश्व-प्रपञ्च के पसारे में विशेष संतोष अनुभव नहीं करता, उसकी दृष्टि में भी विश्व ग्राह्य की अपेक्षा त्याज्य ही अधिक है। यहां सत्यता के अनुरोध से हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि कहीं-कहीं शङ्कराचार्य ने इस बात को माना है कि विश्व-प्रक्रिया जीवों की प्रयोजन-सिद्धि के लिए है और उसके विभिन्नरूपों में ब्रह्म की न्यूनाधिक अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण के लिए वे कहते हैं।

तथा हि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादि स्तम्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबंधः परेण परेण भूयान्भवन्दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवतीत्येतच्छ्रुतिस्मृतिवादेष्व-सकृदनुश्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम् (ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।३।३०)। अर्थात् मानव-जगत् से वनस्पति-जगत् तक क्रमशः ब्रह्म के ज्ञानादि की अभिव्यक्ति कम होती जाती है, और मनुष्य से हिरण्यगर्भ तक ज्ञानादि की अभिव्यक्ति बढ़ती जाती है। शङ्कर कहते हैं कि यह बात श्रुतियों और स्मृतियों में **बार-बार कही गई है**। यहां शंकराचार्य तात्त्विकता के दर्जों के सिद्धांत को स्वीकार करते मालूम पड़ते हैं। वे यह भी मानते हैं कि संसार की सारी प्रवृत्तियों का लक्ष्य आत्मज्ञान है। एक जगह वे कहते हैं, 'यदि नामरूप व्याकृत न होते तो आत्मा का निरुपाधिक प्रज्ञान घनरूप

प्रसिद्ध नहीं होता।'* इसका अर्थ यह हुआ कि विश्व-प्रक्रिया ब्रह्म के रूप को अभिव्यक्ति देने के लिए है। यदि इसी को शंकर का वास्तविक मत माना जाय तो उनका अध्यात्मवाद हैगलिक अध्यात्मवाद के बहुत समीप पहुंच जायगा। हीगल भी विश्व-प्रक्रिया को ब्रह्म की अभिव्यक्ति कहता है, उसका ब्रह्म या पूर्णप्रत्यय विश्व-प्रक्रिया की विभिन्न सीढ़ियों (Stages) में गुज़र कर मानो अधिक पूर्णरूप में आत्मचेतना का लाभ करता है।※ हीगल के मत में विश्व-प्रक्रिया का लक्ष्य ही यह आत्म-चेतना है। किन्तु शङ्कराचार्य के दर्शन में अभिव्यक्तिवाद और प्रयोजन-वाद उनके चिन्तन की निचली सतह में ही पड़े रहे, वे उसकी मुख्य धारा के अङ्ग नहीं हैं। हां, एक प्रकार का प्रयोजनवाद शाङ्कर दर्शन का मुख्य अङ्ग है, यह कि विश्व-प्रक्रिया और उसका प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार मिथ्या होते हुए भी तत्त्वज्ञान के साधन हैं। किन्तु, क्योंकि तत्त्वज्ञान और तज्जन्य मोक्ष वैयक्तिक जीवन के साध्य हैं जिनके लिए प्रयत्न अपेक्षित है, इस लिए यह नहीं कहा जा सकता कि विश्व-प्रक्रिया स्वभावतः तात्त्वज्ञन और मोक्ष की ओर बढ़ रही है। वेदांत के अनुसार ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत साधना और प्रयत्न नितात अपेक्षित हैं, और उनका फल भी व्यक्ति-विशेषों तक सीमित रहता है। बन्धन और मोक्ष, अवनति और उन्नति का सम्बन्ध व्यक्तियों से रहता है, सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया से नहीं। इसके विपरीत हीगल का दर्शन सृष्टि-प्रक्रिया में ही पूर्णता की ओर प्रगति पाता है। हीगल के अनुसार सृष्टिमात्र पूर्णत्व की ओर बढ़ रही है, और पूर्णता या मुक्ति केवल वैयक्तिक घटना नहीं है।

पूर्वी और पश्चिमी अध्यात्मवाद का यह एक महत्वपूर्ण भेद है।

* **यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते तदाऽस्यात्मनो प्रज्ञानघनाख्यम् निरुपाधिकं रूपं न प्रतिख्यायेत—बृह० उप० भा० २।५।१० (पृ० ३६४ आनन्दाश्रम संस्करण)**

※ दे० Falckenberg, History of Modern Philosophy, 3rd Edn .p, 489

पश्चिमी दर्शन मोक्ष या पूर्णता को विश्व-प्रक्रिया की ही अन्तिम मंज़िल मानता है, जब कि पूर्वी अध्यात्मवाद के अनुसार मोक्ष या पूर्णत्व का अर्थ सृष्टि-क्रिया से सम्बन्ध-विच्छेद अथवा अनुभव-जगत से नितान्त भिन्न एक नई भूमिका (Plane of Existence) में प्रविष्ट हो जाना है। इसीलिए हम भारतवर्ष में वास्तविक प्रयोजनवादी पद्धतियों का अभाव पाते हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं सांख्य का प्रयोजनवाद, यह सिद्धान्त कि प्रकृति पुरुष को मुक्त करने के लिए प्रवृत्त होती है, उसके दर्शन का अवियोज्य अङ्ग नहीं मालूम पड़ता, न उसके पीछे युक्तिपूर्ण चिन्तन का ही बल है। इसी प्रकार वेदान्त की दुनिया भी प्रयोजनोन्मुख प्रक्रिया नहीं है। हीगल के विश्व में प्रगति अनिवार्य घटना-सी लगती है; वेदान्त की विश्वदृष्टि (World-view) में प्रगति कोई आवश्यक तत्त्व नहीं है। वेदान्त के अनुसार विश्व-प्रपञ्च अनादि अविद्या का परिणाम है जिससे अपने को भिन्न समझ लेने में ही आत्मा का कल्याण है; इसके विपरीत हीगल के मत में परब्रह्म या पूर्णप्रत्यय अपने को अधिक पूर्णता में सचेतन महसूस करने के लिए विश्व-प्रक्रिया में विकसित होने का अनुभव स्वीकार करता है।

संवित्शास्त्रीय अध्यात्मवाद

प्लेटो, लाइबनिज़ और हीगल का अध्यात्मवाद तत्त्व-दर्शन (Ontology) से विशेष सम्बन्ध रखता है। ऊपर हमने यह सम्मति प्रकट की है कि इस प्रकार के अध्यात्मवाद का विकास भारतवर्ष में नहीं हुआ। अरस्तू, फिश्टे और शेलिङ्ग की गणना भी उक्त कोटि के अध्यात्मवादियों में की जा सकती है। किन्तु गत अर्धशताब्दी में इंग्लैण्ड और अमरीका में एक दूसरे प्रकार के अध्यात्मवाद का विकास हुआ जिसकी मूलभित्ति ज्ञान-मीमांसा-विषयक सिद्धान्त है। ब्रेडले ने एक ओर तो अपने नवीन ब्रह्मवाद (Absolutism) का प्रतिपादन किया और दूसरी ओर इस नवीन (Epistemological Idealism) को पुष्ट और प्रोत्साहित किया। इस नवीन अध्यात्मवाद का पिता अथवा बीजारोपक बर्कले को कहना चाहिए।

बर्कले ने कहा था कि क्योंकि मेरे अनुभव का विषय प्रत्यय हैं, और प्रत्यय मेरे अर्थात् आत्मा के भीतर हैं, इसलिए विश्व मनोमय है और जड़ तत्त्वों की सत्ता असिद्ध है। बर्कले का मत आत्मपाती अध्यात्मवाद (Subjective Idealism) कहलाता है। जर्मन दार्शनिक काण्ट ने इस मत का खण्डन किया, नये अध्यात्मवादी भी बर्कले से सहमत नहीं हैं। किन्तु काण्ट स्वयं अध्यात्मवादी था। उसने कहा कि जिस जगत् का हमें अनुभव होता है उसके निर्माण में हमारी बुद्धि का भी हाथ है। अपने यथार्थ या परमार्थ रूप में वस्तुएं अज्ञेय हैं, और वस्तुओं के जिस रूप से हम व्यावहारिक जगत् में परिचित होते हैं वह वस्तुओं का असली रूप नहीं है, हम उनके जिस रूप को जानते हैं वह उनका वह रूप है जो हमारी बुद्धि के स्पर्श से विकृत हो चुका है। पारमार्थिक वस्तुएं जिन सम्वेदनों को उत्थित करती हैं उन्हें हमारी बुद्धि स्वभावतः देश-काल-कारणता आदि के ढाचों में ढालती है जिसके फल-स्वरूप दृश्य जगत् का आविर्भाव होता है। इस प्रकार काण्ट यह मान्ता प्रतीत होता है कि भौतिक विज्ञान में विश्व का जो ज्ञान अर्जित किया जाता है, वह यथार्थ ज्ञान नहीं है। अपनी यथार्थता में विश्व अज्ञेय है।

नये अध्यात्मवादियों का मत काण्ट से आंशिक समता रखता है, वे भी मानते हैं कि ज्ञान-प्रक्रिया में ज्ञाता निष्क्रिय-भाव से बाह्य विश्व का ग्रहण नहीं करता, अपितु वह अपने ज्ञान-व्यापार से उसे प्रभावित भी करता है। इस सम्वित्शास्त्रीय (Epistemological) अध्यात्मवाद को समझने के लिए उसके विरोधी यथार्थवाद का स्वरूप जानना लाभदायक होगा। प्राइचर्ड के शब्दों में यथार्थवाद के अनुसार ज्ञान की सम्भावना इस मान्यता पर निर्भर है कि 'ज्ञेय तत्त्व ज्ञान से या ज्ञात होने से स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, और हम उसे उसके इसी स्वतन्त्ररूप में जानते हैं।'* अभिप्राय यह है कि जानने की क्रिया ज्ञेय पदार्थ को प्रभावित या विकृत नहीं करती, वह पदार्थ के पहले से निश्चित स्वरूप को

* बोसांक्वेट, Logic, Part II, p. 305 पर उद्धृत

प्रकट मात्र कर देती है। ज्ञाता से सम्बद्ध होने से पहिले ज्ञेय की जो दशा होती है, ज्ञाता के ज्ञान में प्रविष्ट होने के बाद भी उसकी वही दशा रहती है। ज्ञेय पदार्थ न तो अपने अस्तित्व के लिए और न अपने स्वरूप के लिए ज्ञाता पर निर्भर करता है। यदि संसार से सारे चेतन ज्ञाताओं को निकाल दिया जाय तो भी ज्ञेय-विश्व में कोई परिवर्त्तन न होगा, वह जैसा है वैसा ही बना रहेगा। ज्ञाता से सम्बद्ध होना ज्ञेय के जीवन में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं है। यदि कल कोई देखने वाला न होगा, तो भी फूलों के रूप-रंग एवं नक्षत्रों की ज्योति में कोई अन्तर न आएगा। वे जैसे हैं वैसे ही बने रहेंगे। ज्ञेय किसी भी अर्थ और किसी भी अंश में अपनी सत्ता या स्वरूप के लिए ज्ञाता की अपेक्षा नहीं करता।

ऊपर का मत मानवता की सहज बुद्धि (Commonsense) के अनुकूल है, वर्त्तमान काल के विचारकों का झुकाव भी इसी की ओर है। किन्तु अध्यात्मवादी विचारक अपने को उक्त सिद्धान्त का समर्थन करने में असमर्थ पाते हैं। नव्य अध्यात्मवादो बर्कले के इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि वस्तुओं के होने का अर्थ उनका देखा जाना है। वे मानते हैं कि बाह्य जगत् केवल द्रष्टा के प्रत्यय या विज्ञानमात्र नहीं है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। किन्तु वे यह नहीं मानते कि ज्ञेय पदार्थ के जीवन में ज्ञाता से सम्बद्ध होना एक महत्व-शून्य घटना है। अधिकांश सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवादी अन्तरङ्ग-सम्बन्धवादी हैं। अन्तरङ्गसम्बन्धवाद (Theory of Internal Relations) के अनुसार सम्बन्धी तत्वों का स्वरूप उनके विभिन्न सम्बन्धों द्वारा निर्मित या निर्धारित होता है। हीगल के समय से अध्यात्मवादी विचारक यह मानते चले आए हैं कि विश्व की वस्तुएं परस्पर सम्बद्ध हैं। हीगल ने यहां तक कहा था कि जिन्हें हम विरोधी (Contradictories) कहते हैं उनमें भी सम्बन्ध होता है; युक्तवाद या समन्वयवाद (Synthesis) में वाद और प्रतिवाद (Thesis and Anti-thesis) दोनों का समावेश हो जाता है। 'विरोध-नियम'

की सत्यता आपेक्षिक है।❀ आशय यह है कि विश्व एक समष्टि (System) है जिसमें प्रत्येक वस्तु प्रत्येक दूसरी वस्तु से सम्बद्ध है। अध्यात्मवादी यह भी कहते हैं कि सम्बन्ध अर्थहीन नहीं होते, प्रत्येक वस्तु का तत्त्व उसके सम्बन्धों में निहित है। दो वस्तुओं में सम्बन्ध है, यह इस बात का द्योतक है कि उन वस्तुओं में कोई गम्भीर ऐक्य है और वे परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं। ब्रेडले कहता है—'एक अवयवी या ऊंची श्रेणी के अन्तर्गत ही सम्बन्ध हो सकते हैं; इसके अतिरिक्त सम्बन्ध का कोई अर्थ नहीं है।'* एक गज और एक घण्टे में सम्बन्ध सम्भव क्यों नहीं दीखता, इसीलिए कि हमारी बुद्धि उन्हें एक श्रेणी के अन्तर्गत नहीं ला सकती। इसीलिए यह प्रश्न निरर्थक या विचित्र लगता है कि 'लन्दन के पुल से एक बजे का समय कितनी दूर है?'*

निष्कर्ष यह है कि सम्बन्ध सम्बन्धियों का स्वरूप बनाते हैं, उन्हें प्रभावित करते हैं। सम्बन्धों के अतिरिक्त सम्बन्धी की सत्ता का कोई अर्थ ही नहीं है। किसी व्यक्ति को जानने का अर्थ उसके सामाजिक-सम्बन्धों को जानना है; वह व्यक्ति कैसे जीविका कमाता है, किसका पुत्र है, किस स्त्री का पति और किस बालक का पिता; इन सम्बन्धों के अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व का कोई अर्थ ही नहीं। विशेषतः **ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध बहुत ही महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है**, और वह ज्ञेय पर निश्चित प्रभाव डालता है। हम जिस विश्व को जानते हैं वह अनुभूत विश्व है, चेतन ज्ञाताओं से अलग होकर विश्व का स्वरूप क्या होगा, यह हम कभी नहीं जान सकते। वास्तव में ऐसे विश्व के बारे में बात करना ही फिजूल है। वह विश्व जिसे हम जानते हैं अर्थात् ज्ञात या अनुभूत जगत्, उस पर चेतन ज्ञाताओं की सत्ता का निश्चित प्रभाव पड़ता है—वह ज्ञातृ-चेतना के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। यदि बाह्य विश्व हमें प्रभावित करता है, तो यह कैसे सम्भव है कि हम उसे प्रभावित न करते हों?

❀ दे० Caird, Hegel, p, 162

* Appearance and Reality, p, 142

* Bosanquet, Logic, Part II, p, 273

बोसांक्वेट कहता है कि ज्ञान-सम्भावना की आवश्यक मान्यता (Pre-supposition) यह नहीं है कि ज्ञेय ज्ञाता पर अवलम्बित नहीं है अथवा ज्ञान-सम्बन्ध ज्ञेय को प्रभावित नहीं करता, बल्कि यह कि 'जिस हद तक हम वस्तुओं को जानते हैं, हम उन्हें वैसी ही जानते हैं जैसी कि वे हैं।'❀ नव्य अध्यात्मवादी काण्ट के साथ यह नहीं मानते कि ज्ञान-व्यापार ज्ञेय को विकृत कर देता है और परमार्थ वस्तुएं अज्ञेय हैं। सम्बन्ध ही वस्तुओं का जीवन है, विभिन्न सम्बन्धों से ही वस्तु आत्मलाभ करती है। जो समाज में किसी से सम्बद्ध नहीं है, उस व्यक्ति का जीवन वस्तुतः अपूर्ण या अधूरा है। इसी प्रकार ज्ञेय जगत् का यथार्थ और पूर्णरूप तभी प्रकट होता है जब वह ज्ञाता से सम्बद्ध हो जाता है। इसलिए यह कहने के बदले कि ज्ञाता का सम्बन्ध ज्ञेय को विकृत कर देता है, कहना चाहिए कि ज्ञाता की चेतना में ही, ज्ञाता से सम्बद्ध होकर ही, ज्ञेय जगत् का यथार्थरूप प्रकट होता है। विश्व-प्रक्रिया स्वभावतः अपने को वैयक्तिक चेतनाकेन्द्रों में प्रतिबिम्बत या प्रकट कर रही है, वह स्वभावतः अपने को वर्धिष्णु ज्ञान-चेतना में प्रकाशित करती रहती है। अपने को इस प्रकार व्यक्त करने से पहले विश्व-प्रक्रिया अपूर्ण है।*

सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवाद, जिसकी हमने ऊपर रूपरेखा खींची है, हेकेल, स्पेन्सर आदि के वैज्ञानिक जड़वाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। इंग्लैण्ड में ग्रीन, ब्रेडले और बोसांक्वेट ने, इटली में क्रोचे ने तथा अमरीका में रॉइस (Royce) आदि ने विज्ञानावलम्बित जड़वाद का विरोध किया। इस अध्यात्मवाद का मुख्य तर्क यही है कि 'संसार के पदार्थों को द्रष्टा या ज्ञाता के अनुभव से अलग नहीं किया जा सकता।' काण्ट ने कहा था कि अहं प्रत्यय सब अनुभवों का सहगामी है, अहं के लिए अस्तित्व-वान् होना (Existence for self) पदार्थों का साधारण या व्यापक धर्म

❀ वही, पृ० ३०५

* वही, पृ० ३१२

है। काण्ट ने साक्षी अथवा अनुभव-केन्द्र को विश्व-प्रक्रिया के मध्य में स्थापित करने की चेष्टा की। नव्य-अध्यात्मवाद भी इसी बात पर जोर देता है कि अनुभव-कर्त्ता अथवा चेतनानुभूति का अपलाप नहीं हो सकता। यही नहीं, प्रपञ्च के विस्तार में चेतन अनुभव-केन्द्रों का एक विशिष्ट स्थान है; ज्ञात विश्व अपनी सत्ता और स्वभाव के लिए द्रष्टा या अनुभव-केन्द्रों पर निर्भर करता है।

सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवाद प्रधानतः वस्तु-ज्ञान के विश्लेषण पर निर्भर है। वह जड़वाद का सम्वित्-शास्त्रीय (Epistemological) खण्डन या उत्तर है। इस विशिष्ट अध्यात्मवाद का (पाठक याद रखें) मानव-जीवन के अन्तिम लक्ष्य अथवा नैतिक व्यापारों से विशेष सम्बन्ध नहीं है—वह इनके बारे में कोई युक्तिसम्मत सिद्धान्त प्रतिपादित करने की चेष्टा नहीं करता। वह सिर्फ इस बात पर जोर देता है कि जिस विश्व को हम जानते हैं उसका अस्तित्व और स्वभाव बहुत कुछ चेतन-द्रष्टाओं पर निर्भर है। इन चेतन-द्रष्टाओं के स्वरूप पर भी यह अध्यात्मवाद विशेष विचार नहीं करता। योरुपीय दर्शन की सामान्य-प्रवृत्ति के अनुसार योरुपीय अध्यात्मवाद भी आत्मतत्त्व पर विशेष मनोयोग से विचार नहीं करता। ब्रेडले ने तो अन्य धारणाओं की भांति आत्म-प्रत्यय को भी विरोधग्रस्त कहकर उड़ा दिया है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात जो स्मरण रखने योग्य है वह यह है कि योरुपीय दर्शन प्रायः आत्मा को संवेदन, संकल्प, वेदना आदि व्यापारों की समष्टि मानता है। क्रोचे ने अपने दर्शन में विभिन्न चेतन व्यापारों का वर्गीकरण करने की चेष्टा की है, और ब्रेडले भी तात्त्विकता के दर्जों का विचार करते हुए नैतिक अनुभूति, सौन्दर्यानुभूति, धार्मिक–(Religious) अनुभूति आदि का उल्लेख करता है, इनके आश्रयभूत एक आत्मा को वह विशेष महत्व नहीं देता।

अद्वैत वेदान्त

भारतीय अध्यात्मवाद का चरमविकास शाङ्कर-अद्वैत में हुआ है। जैसा कि हम कह चुके हैं भारतीय अध्यात्मवाद का प्रयोजनवाद से विशेष

सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि भारत के प्रायः सभी दर्शन इस सिद्धान्त को मानते हैं कि संसार में एक नैतिक क्रम (Moral Order) है, और किये हुए शुभ या अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, तथापि भारतीय अध्यात्मवाद भी इस मन्तव्य को आवश्यक नहीं समझता कि विश्व-प्रक्रिया स्वतः मुक्ति या ब्रह्मभाव की ओर बढ़ रही है। इसी प्रकार भारतीय अध्यात्मवाद सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवाद से भी आवश्यकरूप में सम्बद्ध नहीं है। अद्वैत-मत के प्रवर्त्तक श्रीशङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में विज्ञानवाद का तीव्र खण्डन किया है। किन्तु कहीं-कहीं शङ्कर के अनुयायियों एवं स्वयं शङ्कर में भी ब्रेडले-बोसांक्वेट वर्ग के विषयपाती अथवा सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवाद (Objective or Epistemological Idealism) के संकेत पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए 'विवरण प्रमेह-संग्रह' कार कहते हैं—सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव, अर्थात् संसार की सारी वस्तुएं ज्ञातभाव से अथवा अज्ञात भाव से (अज्ञातता में) साक्षिचैतन्य का विषय ही हैं।* मतलब यह है कि साक्षी से भिन्न वस्तुओं की सत्ता नहीं है। अन्यत्र वे अध्यस्त-तत्त्व को प्रतीतिमात्र शरीरवाला बतलाते हैं (अध्यस्तस्य प्रतीतिमात्र शरीरत्वात्—पृ० १८)। स्वयं शङ्कर इतनी दूर तक नहीं जाते। किन्तु वे भी कभी-कभी ब्रेडले आदि अध्यात्मवादियों की भांति कह देते हैं कि 'वस्तुतत्त्व है और जाना नहीं जाता, यह कहना अयुक्त है' (वस्तुतत्त्वं भवति किञ्चिन्न ज्ञायते इति चानुपपन्नम्—प्रश्नोपनिषद्, ६।२), इसलिए सारे व्याकृत पदार्थ कहीं किसी न किसी रूप में किसी को ज्ञात ही रहते हैं (क्वचित् किञ्चित् कस्यचिद् विदितं स्यादिति सर्वं व्याकृतं विदितमेव—केन भाष्य, १।४)। पहिले उद्धरण पर टीका करते हुए आनन्दज्ञान कहते हैं—तस्याज्ञाने तत्सद्भावासिद्धेस्तथाभूतपदार्थोऽसिद्ध इत्याह वस्तुतत्वेति, अर्थात् जिस पदार्थ का किसी को ज्ञान नहीं है उसकी सत्ता ही असिद्ध है, इत्यादि।

* विवरण प्रमेय संग्रह (विजयानगरम् संस्करण) पृ० १७

ऊपर के अवतरणों से कोई यह परिणाम निकाल सकता है कि वेदांतीय अध्यात्मवाद और सम्वित्-शास्त्रीय अथवा ब्रेडले आदि के अध्यात्मवाद में कोई भेद नहीं है। किन्तु हमारा विश्वास है कि इन दो प्रकार के अध्यात्मवादों में जो समता दीखती है वह तात्त्विक की अपेक्षा ऊपरी अधिक है। बात यह है कि ज्ञान मीमांसा में शङ्कर यथार्थवादी हैं। काण्ट ने कहा था कि बौद्धिक धारणाएं दृश्य जगत् को निर्मित करती हैं, वे उसके अस्तित्व या शरीर का आवश्यक तत्त्व हैं। सम्वित्-शास्त्रीय आधुनिक अध्यात्मवाद भी, अन्तरङ्ग सम्बन्धवाद को स्वीकार करके, यह मानता है कि ज्ञाता या चेतनानुभूति ज्ञेय जगत् के स्वरूप को बनाती अथवा निर्धारित करती है। इसके विपरीत शङ्कर यह कभी नहीं कहते कि ज्ञान ज्ञेय को निर्मित, विकृत या निर्धारित करता है। उनके अनुसार ज्ञान का काम ज्ञेय को प्रकाशित करना है। शङ्कर अन्तरङ्ग-सम्बन्धवाद (Theory of Internal Relations) जैसे किसी मन्तव्य को नहीं मानते, वे विश्व-तत्त्व को अनेक तत्त्वों की समष्टि भी नहीं मानते। इसलिए उन का मत ब्रेडले आदि के सिद्धान्तों से काफी दूर हो जाता है। वस्तुतः ब्रेडले पर तो बर्कले का भी काफी प्रभाव दिखाई पड़ता है। शङ्कर ने विज्ञानवाद का घोर विरोध किया है और उनकी यह उक्ति सम्वित्-शास्त्रीय अध्यात्मवाद के हिमायतियों को नितान्त आश्चर्यजनक लगेगी कि 'ज्ञान और ज्ञान का विषय एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं' (तस्मादर्थ ज्ञानयो- र्भेदः— ब्रह्मसूत्र भाष्य, २। २। २८)।

इस प्रकार वेदान्तीय अध्यात्मवाद योरुपीय अध्यात्मवाद के दोनों प्रमुखरूपों से भिन्न है। प्रश्न यह है कि ऐसी दशा में वेदान्त को अध्यात्म- वाद संज्ञा क्यों दी जाय? और यदि वेदान्त अध्यात्मवाद है तो उसकी विशेषताएं क्या हैं? पहिले प्रश्न के समाधान का रहस्य डा० दासगुप्त की दी हुई अध्यात्मवाद की परिभाषा में निहित है। वेदान्त चरमतत्त्व को चिदात्मरूप कहता है, उसके अनुसार आत्मा ही तात्त्विक है, इसलिए उसे अध्यात्मवाद कहना समुचित है। दूसरे, वेदान्त दृश्य-जगत् को

अतात्त्विक कहता है, उसकी यह प्रवृत्ति भी अध्यात्मवादी है। वेदान्त की विशेषता इस में है कि उसने चरमतत्त्व और अतात्त्विक जगत् दोनों पर अत्यन्त नवीन या मौलिक ढंग से विचार किया है, और इन दोनों के बारे में भी उसका नितान्त मौलिक मत है। वेदान्त की इन विशेषताओं का हम क्रमशः वर्णन करेंगे।

वेदान्त के मत में तत्त्व पदार्थ चिदात्मरूप (Spiritual) है। वेदान्त जड़-प्रपञ्च को मायिक मानता है। एक दृष्टि से प्लेटो, बर्कले, लाइबनिज़ और हीगल का तत्त्व-पदार्थ भी चिदात्मक है। किन्तु वेदान्त एवं इन दर्शनों में महत्त्वपूर्ण भेद है। योरुपीय अध्यात्मवाद में विश्व-तत्त्व या परब्रह्म को प्रायः प्रत्ययात्मक अथवा बौद्धिक धारणाओं की समष्टिरूप कल्पित किया गया है। प्लेटो का श्रेयस्-प्रत्यय सामान्यों की समष्टि है, और उसके सामान्यों या जातिप्रत्ययों को चिदात्मक नहीं कहा जासकता है।* उन्हें चिदात्मक कहने का केवल यही अर्थ होगा कि वे पौद्गलिक (Material) नहीं हैं। यही बात हीगल के पूर्णप्रत्यय के बारे कही जा सकती है। स्पिनोज़ा का द्रव्य तो न जड़ है न अजड़, जड़ता और चैतन्य, बोध और विस्तार दोनों उसके धर्म हैं। इसी प्रकार काण्ट की परमार्थवस्तुओं को चिदात्मक कहना समुचित प्रतीत नहीं होता। ब्रेडले अपने परब्रह्म को अनुभवरूप भी कहता है, किन्तु वह आत्मतत्त्व को विरोधग्रस्त धारणा घोषित करता है। लाइबनिज़ के चिद्बिन्दुओं में जड़त्व भी पाया जाता है, और बर्कले की दृष्टि में आत्माओं का प्रधान धर्म प्रत्ययों का वाहक होना है।

वस्तुतः व्यक्तिगत आत्माओं का विचार किये बिना चिदात्मकता का अर्थ समझना कठिन हो जाता है। वेदान्त आत्मतत्त्व को क्षणिक विज्ञानों अथवा प्रत्ययों से भिन्न चिद्घन अथवा मात्र ज्योतिः स्वरूप लक्षित करता है। उसके अनुसार हमारी मानसिक दशाओं, हमारे प्रत्ययों या विज्ञानों की

* इस प्रसंग में दे० Windelfand, A History of Philosophy, पृ० ११७-१८

चिदात्मकता वास्तविक नहीं है, वह आत्मज्योति का प्रतिबिम्बमात्र है।

वेदान्त के ब्रह्मवाद की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह ब्रह्म वैयक्तिक आत्मा को एक घोषित करके ब्रह्म या विश्वतत्त्व की सत्ता का अनुभवात्मक अकाट्य प्रमाण देने की चेष्टा करता है। जहा तक हमें मालूम है, दुनिया की किसी अध्यात्मवादी पद्धति ने तत्त्व-पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध करने का इतना उत्साहपूर्ण और सफल प्रयत्न नहीं किया है। प्रायः योरुप के सारे अध्यात्मवादी विचारकों ने विश्व-तत्त्व को बुद्धि द्वारा पकड़ने की चेष्टा की है। भारतवर्ष में, चरमतत्त्व के सम्बन्ध में माध्यमिक का दृष्टिकोण अभावात्मक-सा है। वह माध्यमिक जो बौद्धिक-धारणाओं तथा अनुभव-जगत् के तत्त्वों की आलोचना में सब से अधिक बोलने वाला है, चरमतत्त्व के बारे में कुछ कहते हुए अनावश्यक संकोच का अनुभव करता है। प्लेटो का श्रेयस्-प्रत्यय एक कल्पित धारणामात्र है, वह अपने विश्वव्यापी प्रयोजनवाद का कोई पुष्ट दार्शनिक आधार प्रस्तुत नहीं करता। अरस्तू के अचल गतिदाता ईश्वर की सत्ता में भी कोई अच्छी युक्ति नहीं दी गई है। वर्त्तमान विज्ञान के अनुसार गतितत्त्व को पुद्गल से अलग नहीं किया जा सकता, जड़द्रव्य को गति देने के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। स्पिनोज़ा का द्रव्य और लाइ-बनिज़ के चिद्बिन्दु तो उनके बुद्धिवाद के कल्पित पुत्र हैं; 'हमारी बुद्धि को यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि द्रव्य-तत्त्व इस प्रकार का होना चाहिए।' इसके अतिरिक्त वे अपने-अपने द्रव्यों के विशिष्ट रूपवाले होने का कोई प्रमाण नहीं देते। वस्तुतः बुद्धिवादी दर्शनों की शक्ति उसकी आन्तरिक संगति अथवा सामञ्जस्य (Inner Harmony) में है। यौक्तिक प्रौढ़ता की दृष्टि से हीगल के दर्शन को ऊंचा स्थान दिया जाता है। हीगल ने नितांत बारीक ढंग से तर्कना करके पूर्णप्रत्यय की वास्तविकता सिद्ध करने की कोशिश की है। सत् (सत्ता Being) की धारणा सब से दरिद्र धारणा है, उसकी सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। अपने तर्कशास्त्र (Logic) में हीगल इसी धारणा को लेकर चलता है। सत् की धारणा

बरबस, द्वन्द्वनियम के अनुसार, असत् की ओर ले जाती है। और असत् से हम विवश होकर 'होना' (Becoming) पर पहुंच जाते हैं जिसमें सत् और असत् का सामञ्जस्य होता है। इसी प्रकार हमारा चिन्तन द्वन्द्वनियम के अनुकूल बढ़ता हुआ पूर्णप्रत्यय तक पहुंच जाता है। हीगल अपने तर्कशास्त्र में कहीं पर भी मूर्त्त अनुभव की ओर संकेत करने अथवा उसकी दुहाई देने की आवश्यकता महसूस नहीं करता। इस तर्कना-प्रकार की सब से बड़ी कठिनाई यह है कि यदि उसमें कहीं पर भी भूल हो जाय तो उसका अन्तिम निष्कर्ष अप्रामाणिक हो जाता है। आज हीगल का बड़े से बड़ा प्रशंसक और पक्षपाती भी यह दावा नहीं करेगा कि अपने विस्तृत तर्क-शास्त्र में हीगल ने कहीं भी कोई भूल नहीं की है, और वह वस्तुतः पूर्णप्रत्यय की धारणा को मानव-चिन्तन की आन्तरिक आवश्यकता सिद्ध कर सका है। दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय कि मानव-चिन्तन बरबस पूर्णप्रत्यय की धारणा की ओर अग्रसर होता है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पूर्णप्रत्यय नामक धारणा समष्टि सच-मुच ही विश्व के सार (Essence) के रूप में अस्तित्ववान् है। सत् की धारणा को मान लेने का अर्थ उसके मानव-बुद्धि से बाहर स्वतन्त्र अस्तित्व का स्वीकार कर लेना नहीं है, वास्तव में पूर्णप्रत्यय की वस्तुगत (Objective) सत्ता सिद्ध करने के लिए हीगल ने सेण्ट एन्सेल्म और डेकार्ट की सत्ता-सम्बन्धी युक्ति (Ontological Argument) का प्रयोग किया है, जिसका महत्त्व नितान्त संदिग्ध है। काण्ट ने जो इसकी समीक्षा की थी उसका कोई संतोषजनक उत्तर कभी नहीं दिया गया। स्वयं काण्ट ने तो आत्मा और ईश्वर को नैतिक विश्वास का विषय एवं परमार्थ वस्तुओं को दार्शनिक बुद्धि द्वारा अज्ञेय कथन कर डाला है। यह आश्चर्य की बात है कि विश्व को आत्ममय (अथवा मनोमय?) घोषित करने वाले बर्कले ने आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया है।

ब्रेडले भी अपने परब्रह्म की सत्ता सिद्ध कर सका है, इसमें सन्देह है। 'तात्त्विक वह है जो निर्विरोध है', इस परख से निर्विरोध पदार्थ की

सत्ता सिद्ध नहीं होती। यदि अनुभव जगत् में, जैसा कि ब्रेडले पाता है, कुछ भी निर्विरोध नहीं है, तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि अनुभव से परे कोई तत्त्व ऐसा है जो विरोधग्रस्त नहीं है? वस्तुतः ब्रेडले ब्रह्म को अनुभवातीत नहीं बतलाता, ब्रह्म अनुभवरूप है, किन्तु अनुभवरूप ब्रह्म के निर्विरोधभाव को हम किस प्रमाण द्वारा पकड़ें, किस मार्ग से उसके अस्तित्त्व को हृदयंगम करें, यह बताने में ब्रेडले नितान्त असमर्थ रहा है। वास्तव में ब्रेडले का परब्रह्म भी अपने अस्तित्त्व की सिद्धि के लिए Ontological Argument पर निर्भर करता है। ब्रेडले जगह-जगह एक फार्मूले की आवृत्ति करता है। 'जो हो सकता है, उसे यदि होना भी चाहिए, तो वह अवश्य ही है' (What may be, if it also must be, assuredly is)। यह उक्ति सत्ता-सम्बन्धी युक्ति का ही एकरूप है।

परब्रह्म की सत्ता के अतिरिक्त ब्रेडले ने यह भी सिद्ध करने की कोशिश की है कि ब्रह्म में सुख का अतिरेक है और नैतिक बुराई की अपेक्षा शिवत्व अथवा मंगलत्व का आधिक्य है। ब्रेडले की युक्ति यह है कि यदि ब्रह्म में दुःख की अधिकता हुई तो उसका सामञ्जस्य (निर्विरोधता का भावात्मकरूप) नष्ट हो जायगा। इस तर्क की आलोचना करते हुए प्रिंगिल पेटिसन ने लिखा है कि 'युक्तिगत (Logical) निर्विरोधता या विरोध से वेदनीय सुख या दुःख तक पहुंचने के लिए सम्भवतः दार्शनिक-बुद्धि ने इससे कमजोर पुल कभी नहीं बनाया।'* ब्रेडले पहले तो विरोधाभाव को सामञ्जस्य बना डालता है, और फिर उसे केवल तर्कात्मक न रहने देकर 'व्यक्तित्व के संतुलन' का रूप दे देता है। यौक्तिक विरोधाभाव सामञ्जस्य और संतुलन, अथवा आनन्दरूपता, यह तीनों एक वस्तु नहीं हैं। किन्तु ब्रेडले ने तीनों को समानार्थकरूप में प्रयुक्त करके अपनी पद्धति की अयौक्तिकता को ढकने की चेष्टा की है। वास्तव में परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विरोधनियम पर निर्भर करना नितांत अपर्याप्त है। विरोधनियम, अन्ततोगत्वा, एक बौद्धिक धारणा है, और कोई भी

* दे० The Idea of God, पृ० २३४

बौद्धिक धारणा या धारणासमष्टि अनुभव का स्थान नहीं ले सकती। दार्शनिक चिन्तन का पुष्ट आधार अनुभव होना चाहिए, न कि बौद्धिक कल्पनाएं। जो दर्शन अनुभव का आश्रय छोड़ कर मात्र कल्पनाओं को लेकर बढ़ेगा, वह कहीं न कहीं अवश्य ठोकर खायगा। जब बुद्धि अनुभव की सीमाओं का उल्लङ्घन करके अमूर्त वातावरण में अमर्यादित-भाव से घूमने लगती है, तब वह क्रमशः वस्तु जगत् की दृष्टि और स्पर्श से दूर होती हुई नितान्त अस्वाभाविक और असह्य हो उठती है।

अद्वैत वेदान्त परब्रह्म को अनुमान या कल्पना के सहारे नहीं ढूंढ़ता, वह उसका स्पर्श मानवता की अपरोक्षानुभूति में करना चाहता है। हम निर्देश कर चुके है कि वेदान्त अनुभवनिरपेक्ष तर्क को शंकित दृष्टि से देखता है। ज्ञान का पर्यवसान साक्षात् अनुभूति में होना चाहिए, मात्र बौद्धिक संतोष पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः वेदान्त का उद्देश्य चरमतत्त्व ज्ञान ही नहीं, अपितु उसकी प्राप्ति थी, इसलिए वह पाश्चात्य दर्शनों की भांति केवल बौद्धिक संगति से सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। भारतवर्ष में दर्शन का उद्देश्य मात्र विश्व की व्याख्या करना नहीं था; दर्शन को मोक्षमार्ग का प्रदर्शक होना चाहिए। दर्शनशास्त्र को तत्त्वपदार्थ की व्याख्या करके ही नहीं रुक जाना चाहिए, उसे यह भी बताना चाहिए कि किस प्रकार हम तात्त्विक भाव को प्राप्त करें। ब्रेडले की भांति शङ्कर भी मानते हैं कि तत्त्व-पदार्थ अनुभवातीत नहीं हो सकता। 'यदि ब्रह्म प्रसिद्ध है, तो उसकी जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए; और यदि ब्रह्म नितान्त अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा सम्भव नहीं है।' अप्रसिद्ध पदार्थ को जानने की इच्छा ही कैसे हो सकती है, वह इच्छा का विषय ही नहीं हो सकता। शङ्कर का उत्तर है कि ब्रह्म न नितान्त प्रसिद्ध है, न सर्वथा अप्रसिद्ध, ब्रह्म सबका आत्मस्वरूप है, और आत्मतत्त्व को न सर्वथा ज्ञात कहा जा सकता है, न अज्ञात। क्योंकि ब्रह्म आत्मरूप है, इसीलिए उसकी सत्ता को सिद्ध किया जा सकता है और उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। नागार्जुन, ब्रेडले और हीगल की भांति शङ्कर आत्मतत्त्व को विरोधग्रस्त धारणा कह

कर नहीं उड़ा देते, वे आत्मानुभूति में चरमतत्त्व की खोज करते हैं। यह चरमतत्त्व हमारे अनुभव में वर्त्तमान नहीं है, तो उसकी सत्ता किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं की जा सकती; और यदि हम अनुभव को विरोधग्रस्त कह कर उड़ा दें, तो विश्वतत्त्व तक पहुंचने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं रह जायगा। बौद्धिक तर्कनाओं को अनुभव से ऊपर स्थान नहीं दिया जा सकता; जो अनुभव-सिद्ध है, उसे विरोधग्रस्त कहने से कोई लाभ नहीं।

विश्वतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध करने में हमें अनुभव का ही आश्रय लेना पड़ेगा। तात्त्विकता की परख बौद्धिक न बनाकर अनुभवात्मक माननी चाहिए। तात्त्विक वह है जिसका कभी अनुभव द्वारा अपलाप नहीं होता, जो अनुभव से कभी बाधित नहीं होता। रज्जु-सर्प और शुक्ति-रजत क्यों मिथ्या हैं? इसलिए कि बाद के अनुभव से उनका अपलाप या बाध हो जाता है। तत्त्व-पदार्थ वह है जिसका अनुभव अबाधित है, जो अबाधित अनुभव का विषय है। आत्मतत्त्व इसी प्रकार का पदार्थ है, इसलिए वह तात्त्विक है।

क्या आत्मा का हमें कभी ज्ञान होता है? बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य पूछते हैं कि आत्मा जो स्वयं ज्ञाता है, कैसे, किस साधन से, जाना जा सकता है? जो सबको जानता है वह स्वयं ज्ञान का विषय कैसे होगा? शङ्कर के साक्षात् शिष्य पद्म-पादाचार्य कहते हैं—पराग्भावेनेदन्ता-समुल्लेखो हि विषयो नाम भवति तद् वैपरीत्येन प्रत्यग्रूपेणानिदम्प्रकाशो विषयी,* अर्थात् विषयता का अर्थ है पराग्भाव या बाह्यता, विषय वही हो सकता है जिसकी ओर 'यह'-संकेत किया जा सके; इसके विपरीत विषयी का अनुभव 'न-यह' (अनिदम्) के रूप में होता है, क्योंकि वह आन्तरिक है। इसलिए आत्मा कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए शङ्कर कहते हैं कि—न तावदयमेकान्तेना-विषयः, अस्मत्प्रत्यय विषयत्वात्। अर्थात् अहं के अनुभव में आत्मा का

* पंच पादिका, (विजया नगरम् संस्करण), पृ० १७

प्रत्यक्ष होता है, इसलिए आत्मा को सर्वथा ज्ञान का अविषय नहीं कह सकते। अहं प्रत्यय में 'यह' और 'न-यह' दोनों प्रकार के तत्त्व रहते हैं, इसलिए अहं प्रत्यय में आत्मा की प्रतीति सम्भव है। किन्तु अहं प्रत्यय में जिस तत्त्व का विषय-रूप में ज्ञान होता है वह अन्तिम विश्लेषण में अन्तःकरण का ही विकार है, इसलिए यह कथन कि अह के अनुभव में आत्मा का विषय-रूप में अनुभव होता है, समुचित नही लगता। सम्भवतः इस प्रकार के आक्षेप की कल्पना करके ही शङ्कराचार्य ने ऊपर के आक्षेप का दूसरा समाधान दिया, वह यह कि आत्मा की प्रतीति स्वतः अपरोक्ष है (अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः)*। आत्मतत्त्व विषयरूप में प्रत्यक्ष नहीं होता, वह स्वयं प्रत्यक्षरूप है। प्रत्यक्ष या अपरोक्ष-प्रतीति ही आत्मा है। श्रुति कहती है कि आत्मा की ज्योति से ही दूसरे सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं। आत्मा स्वयं प्रकाशरूप है, उसे किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। वाचस्पति कहते हैं—आत्मा को अवश्य ही अपरोक्ष मानना चाहिए, क्योंकि यदि आत्मा को अप्रतीत या अप्रकाशित माना जायगा, तो शेष विश्व सुतरा अप्रतीत या अप्रकाशित बन जायगा, समस्त जगत् प्रकाशहीन या अंधकारमय हो जायगा।※ अनुभव में जो विषयों की प्रतीति होती है उसके लिए विषयों की उपस्थिति पर्याप्त नहीं है, बिना आत्मज्योति के विषयानुभूति सचेतनरूप में उद्भासित नहीं हो सकती। इसलिए ज्ञान या प्रकाशस्वरूप आत्मतत्त्व को विषयानुभूति की प्रकाशमानता के रूप में अवश्य मानना चाहिए। अपने चिद्रूप में ही नहीं, व्यावहारिक रूप में भी आत्मा की सत्ता स्वयं सिद्ध है। किसी को कभी यह अनुभव नहीं होता कि 'मैं नहीं हूं'। 'आत्मा होने के कारण ही आत्मा का अपलाप नहीं हो सकता। आत्मा, किसी के लिए भी, बाहर से आई हुई चीज नहीं है, वह स्वयं सिद्ध है; वह दूसरे प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाणों का उपयोग करता है, स्वयं उसके लिए प्रमाण अपेक्षित नहीं

* ब्र० शां० भा० भूमिका

※ प्राप्तमान्ध्यमशेषस्य जगतः—भामती।

हैं······ ····वह प्रमाणादि व्यवहारों का आश्रय होने के कारण, प्रमाणादि व्यवहार से पहिले ही सिद्ध है। ऐसी वस्तु का निराकरण नहीं हो सकता। आगन्तुक (बाहर से आई हुई) वस्तु का ही निराकरण होता है, अपने स्वरूप का निराकरण सम्भव नहीं है; अग्नि अपनी उष्णता का निराकरण कैसे कर सकती है !'—

आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः, न ह्यात्माऽऽगन्तुकः कस्यचित् स्वयं सिद्धत्वात्, न ह्यात्माऽऽत्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिद्ध्यति, तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि अन्याप्रसद्धि-प्रमेयसिद्धय उपादीयन्ते····· आत्मा तु प्रमाणादि व्यवहाराऽऽश्रयत्वात्प्रागेव प्रामाणादि व्यवहारात्सिद्ध्यति, न चेदृशस्य निराकरणं सम्भवति, आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्, ······न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते (ब्रह्मसूत्रभाष्य, २ । ३ । ७)।

इस अवतरण से प्रकट है कि शङ्कराचार्य ज्ञाता एवं प्रमाता रूप आत्मा को भी स्वयंसिद्ध मानते हैं। जो आत्मा प्रमाणों के व्यवहार का आश्रय है, उसके अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रमाण अपेक्षित नहीं हो सकते। स्वयं प्रमाणों की सिद्धि प्रमाता आत्मा के अधीन है, इसलिए आत्मा की सिद्धि प्रमाणों के अधीन नहीं हो सकती। *

इस प्रकार आत्मा की सिद्धि हो जाने पर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या आत्मा को तात्त्विक माना जा सकता है ? हमने ऊपर कहा कि तात्व पदार्थ वह है जिस का कभी अनुभव द्वारा बाध या अपलाप न हो। इस परख के अनुसार आत्मा तात्त्विक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि मूर्च्छा और गहरी नींद में चिद्रूप आत्मा अथवा चेतना का अभाव देखा जाता है। अत्यन्त गहरी नींद से उठ कर मनुष्य कहता है कि 'मैं बड़े सुख से सोया, मुझे किसी बात की सुध नहीं थी।' उत्तर में शङ्कर कहते हैं कि चेतना का कभी वस्तुतः अभाव नहीं होता। गाढ़ निद्रा में जो चैतन्य का अभाव प्रतीत होता है, उसका कारण यह नहीं है कि उस समय सचमुच चेतना नहीं रहती, बल्कि यह कि ज्ञेय विषयों का अभाव रहता है। 'मैं

*** यतो सिद्धिः प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति—नैष्कर्म्य सिद्धि**

उस समय कुछ नहीं जानता था', यह ज्ञान स्पष्ट ही प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है; इसे अनुमान भी नहीं कह सकते क्योंकि इसका आधार व्याप्ति ज्ञान नहीं है; इसलिए इसे स्मृति कहना चाहिए। क्योंकि स्मृति पहले ज्ञान की आवृत्ति होती है इसलिए मानना चाहिए कि गाढ़ निद्रा में भी 'मैं कुछ नहीं जानता', यह ज्ञान वर्त्तमान था। इससे निष्कर्ष यह निकला कि 'कुछ नहीं' का ज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान है, और गहरी नींद में भी आत्म-चैतन्य जागरूक रहता है। तैत्तिरीय भाष्य में शङ्कर लिखते हैं—वैनाशिको ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावं कल्पयत्येव इति चेत्, येन तदभाव कल्पयेत्तस्याभावः केन कल्प्यते इति वक्तव्यं वैनाशिकेन, तदभावस्यापि ज्ञेयत्वाज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः (२।१)। भाव यही है कि यदि ज्ञेय के अभाव में ज्ञान (ज्ञानरूप आत्मा) का अभाव माना जाय तो इस अभाव का साक्षी कौन होगा? ज्ञान या चेतना का अभाव कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता, इसलिए ज्ञान या चिद्रूप आत्मा का कभी अनुभव द्वारा अपलाप नहीं हो सकता। इससे आत्म-पदार्थ की तात्त्विकता सिद्ध होती है। आत्म-तत्त्व हमारे सम्पूर्ण अनुभव में ओतप्रोत है। अनुभव का अर्थ है अर्थ या विषय का प्रकाश होना, * और यह प्रकाश आत्म-ज्योति के बिना सम्भव नहीं है। जिसके बिना अनुभव असम्भव है, उसका अनुभव द्वारा बाध कैसे हो सकता है? साराश यह कि चिद्रूप आत्मा की अनुपस्थिति या अभाव कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता।

अपनी पुस्तक, 'द नेचर ऑफ सेल्फ' में श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी ने यह मत प्रकट किया है कि शङ्कर ने जिस पद्धति से आत्मा की सत्ता सिद्ध की है उस में तथा काण्ट के बौद्धिक धारणाओं की प्रामाणिकता सिद्ध करने के ढंग में बहुत समानता है। काण्ट कहता है कि बुद्धि की धारणाओं के बिना अनुभव असम्भव है। ठीक यही शङ्कर भी कहते हैं,

* तु० की०—योऽयमर्थप्रकाशः फलम्—भामती (ब्रह्मसूत्र शां० भा० पृ० १६)

चिद्रूप आत्मा को माने बिना किसी प्रकार का अनुभव नहीं बन सकता।*
किन्तु हम इस सम्मति से सहमत नहीं हैं। धारणाओं का प्रमाण देते हुए काण्ट अनुभव का विश्लेषण करता है। वह जिस अनुभव को लेकर चलता है उस अनुभव की कुछ विशेषता या विशेषताएं हैं। काण्ट तर्क करता है कि इस प्रकार का अनुभव बौद्धिक धारणाओं के बिना सम्भव नहीं है। काण्ट का विशिष्ट अनुभव, जिसके बल पर धारणाओं की सिद्धि की गई है, कालिकता की चेतनायुक्त अनुभव है। डा० ईविंग कहते हैं कि धारणाओं के निगमन (Deduction) का आधारभूत पक्षवाक्य या प्रेमिस यह है कि 'सम्वेदन-समूह का कालिक अनुभव होता है'॥। प्रो० केम्प स्मिथ के अनुसार काण्ट अनुभव को एक जगह कालिक-व्यापार तथा दूसरी जगह विषय-चेतना मानकर चलता है†। काण्ट के ढंग से यह स्पष्ट है कि वह धारणाओं की चेतना की अपेक्षा कालिक-व्यापार अथवा विषय-चेतना को अधिक मौलिक समझता है; तभी तो वह धारणाओं को अनुमान-प्रक्रिया से सिद्ध करता है। कम्प स्मिथ कहते हैं कि 'कालिक चेतना' एक ऐसी वस्तु है जिसकी यथार्थता में सन्देह नहीं किया जा सकता, इसलिए धारणाओं की सिद्धि के लिए काण्ट इस चेतना का अवलम्ब लेता है‡। किन्तु शङ्कर किसी भी अनुभव को चिद्रूप आत्मा के अनु भव से अधिक मौलिक नहीं मानते। उनके अनुसार चिद्रूपता की अनुभूति कालिक-चेतना से भी अधिक मौलिक या निश्चित है, क्योंकि जहां ऐसा अनुभव सम्भव है जो कालिक-व्यापार नहीं है, वहां ऐसी अनुभूति सर्वथा

* दे० The Nature of Self, पृ० ३०७, ८

॥'The premiss of the whole argument of the transcendental deduction is 'that there occurs awareness of a manifold in time'- A short Commentary on Kant's Critivue of Pure Reason, पृ० ४१

† दे० Commentary to the Critique of Pure Reason पृ० २४०

‡ वही, पृ० २४१

असम्भव है जिस में चेतन आत्मतत्त्व के प्रकाश का अभाव हो। इसलिए शङ्कर का आत्मतत्त्व काण्ट की धारणाओं की तुलना में कहीं अधिक स्वयं-सिद्ध कहलाने का अधिकारी है।

अब हम वेदान्त के प्रपञ्च-विषयक मन्तव्य की विशेषता का दिग्दर्शन करेंगे। वेदान्त का मत, जैसा कि हम इंगित कर चुके हैं, योरुप के आधुनिक अध्यात्मवादियों की अपेक्षा प्लेटो के अधिक समीप है। प्लेटो और वेदान्त दोनों विश्व-प्रपञ्च को अतात्त्विक मानते हैं। हीगल और ब्रेडले परब्रह्म को विश्व-विवर्त्तों की ही समष्टि मानते हैं, किन्तु वेदान्त के अनुसार ब्रह्म विश्व से भिन्न है, यद्यपि स्वयं विश्व ब्रह्म से बाहर नहीं है। गीता कहती है—नत्वहं तेषु ते मयि, अर्थात् विश्व-भगवान् में है पर भगवान् विश्व में नहीं हैं। हीगल के अनुसार विश्व-प्रक्रिया ब्रह्मभाव की ओर बढ़ रही है, ब्रेडले के मत में विश्व के विवर्त्त अपनी समग्रता में समञ्जस ब्रह्मभाव का निर्माण करते हैं, किन्तु वेदान्त के अनुसार देश-कालगत अस्तित्त्व का अतिक्रम अथवा उससे परे होना ब्रह्मभाव है।

विश्व के अतात्त्विक होने का वेदान्त क्या प्रमाण देता है? नागार्जुन, ब्रेडले और हीगल ने भी विश्व की व्यक्तियों तथा धारणाओं को तर्कशास्त्र की तुला पर तौल कर यह परिणाम निकाला है कि वे विरोधग्रस्त, अथवा अतात्त्विक हैं। शङ्कर तात्त्विकता की परीक्षा दूसरी तरह करते हैं। अतात्त्विक वह नहीं है जो तर्क या बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं करता, बल्कि वह, जो अनुभव द्वारा बाधित हो जाता है। स्वप्न या भ्रम के पदार्थों को हम इस लिए मिथ्या नहीं कहते कि वे तर्क की दृष्टि से असन्तोषप्रद या विरोध-ग्रस्त हैं, बल्कि इसलिए कि वे अनुभव की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। वास्तव में व्यावहारिक जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जब तक ब्रह्म साक्षात्कार न हो। जिस प्रकार बिना रज्जु-ज्ञान के सर्पभ्रम की निवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार बिना ब्रह्म-साक्षात्कार के विश्व के मिथ्यात्व का निश्चय नहीं हो सकता। इस निश्चय को उत्पन्न करने में कोरा युक्तिवाद असमर्थ है। तर्क अप्रतिष्ठित हैं, इसलिए भी कोरा तर्क विश्व को मिथ्या

सिद्ध नहीं कर सकता। शङ्कर स्पष्ट कहते हैं—न ह्ययं सर्वप्रमाणसिद्धो लोक व्यवहारोऽन्यत्तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम्, अपवादाभावे उत्सर्ग-प्रसिद्धेः (ब्रह्मसूत्रभाष्य २ । २ । ३१), अर्थात् प्रपञ्च से ऊंची कोटि के तत्त्व का अनुभव हुए बिना सब प्रमाणों से सिद्ध लोक-व्यवहार को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। एक दूसरे प्रसंग में वे कहते हैं कि 'जब तक ब्रह्म की सर्वात्मता का ज्ञान न हो तब तक व्यवहार-जगत् को सत्य ही माना जाता है·········इस प्रकार के ज्ञान से पहिले सारा लौकिक और धार्मिक व्यवहार अक्षुण्ण चलता रहता है, (वही, २ । १ । १४)। सुरेश्वराचार्य भी कहते हैं, ऐकात्म्यप्रतिपत्तेः प्राग्न मिथ्या हेत्वभावतः;❀ अर्थात् एकात्मता के ज्ञान से पहिले जगत् को मिथ्या कहने का कोई कारण नहीं है।

तो क्या शङ्कर ने विश्व को मिथ्या सिद्ध करने के लिए कोई युक्ति नहीं दी है? ब्रह्मसूत्र ३ । २ । ४ पर टीका करते हुए शङ्कर कहते हैं कि हमने विश्व के मायामय होने की सिद्धि "तदनन्यत्व" सूत्र (२ । १ । १४) के भाष्य में की है। इस सूत्र के भाष्य में शङ्कर ने प्रपञ्च के मिथ्यात्व-साधन के लिए दो प्रधान युक्तिया दी हैं। एक का आधार श्रुति की वे उक्तिया हैं जिन में ब्रह्म के ज्ञान से सबका ज्ञान होना कथित किया गया है। श्रुति यह भी कहती है कि कारण के काय या विकार वाचारम्भण (नाम) मात्र होते हैं, कारण ही सत्य होता है। ब्रह्म जगत् का कारण है, उसका कार्य प्रपञ्च नाममात्र या वाणी का विलास मात्र अर्थात् मिथ्या है। 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है, * यहां अनेकता नहीं है', इत्यादि श्रुतियां भी विश्व को मिथ्या सिद्ध करती हैं। यह स्पष्ट है कि आधुनिक विचारकों की दृष्टि में शङ्कर की श्रुत्यवलम्बित युक्तियों का कोई महत्त्व नहीं है। किन्तु शङ्कर ने श्रुतियों को उद्धृत करने के अतिरिक्त विश्व को मिथ्या सिद्ध करने के लिए एक दूसरी युक्ति भी दी है।

वह युक्ति यह है कि यदि प्रपञ्च को मिथ्या न माना जाय तो मुक्ति

❀ सम्बन्ध वार्तिक, पृ० २८८ (आनन्दाश्रम सं०)

* सर्वं खल्विदं ब्रह्म। नेह नानाऽस्ति किञ्चन।

की सम्भावना नष्ट हो जायगी। वास्तव में यही शङ्कर का प्रधान और मौलिक तर्क है। बन्धन का अर्थ है कर्तृत्व और भोक्तृत्व अर्थात् प्रपञ्च-सम्बन्ध। यदि विश्व-प्रपञ्च को नित्य माना जाय तो यह बन्धन भी नित्य हो जायगा और मोक्ष सम्भव न हो सकेगा। सब प्रकार के द्वैतवाद के विरुद्ध शङ्कर का यही तर्क है। 'प्रायः सब मोक्षवादी मानते हैं कि सम्यग्ज्ञान से मोक्ष मिलता है।'❀ किन्तु सम्यग्ज्ञान मोक्ष अथवा बन्धन के नाश का कारण तभी हो सकता है जब बन्धन स्वाभाविक न हो कर मिथ्या हो। ज्ञान से केवल मिथ्या पदार्थ का नाश हो सकता है, वास्तविक पदार्थ का नहीं। यदि कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा का स्वभाव है, यदि वह वास्तविक है (जैसा कि न्याय-वैशेषिक मानते हैं) तो उसका विनाश कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तुओं का स्वभाव अविनश्वर होता है (स्वभावस्यानपायित्वात—ब्रह्मसूत्र शां० भा० ३। २। ७ तथा सांख्य प्रवचन सूत्र, १। ८)। वाचस्पति कहते हैं, न हि ज्ञानेन वस्त्वपनीयते, अपितु मिथ्या ज्ञानेनारोपितम् (भामती, २। १। १४) अर्थात् ज्ञान सत् पदार्थ या वास्तविकता को नहीं हटा सकता, वह मिथ्याज्ञान की सृष्टि को ही दूर कर सकता हैं। 'यदि आत्मा का बन्धन (तप्यत्व) पारमार्थिक है, और यदि बन्धन का हेतु (तापक) प्रपञ्च नित्य है, तो मोक्ष कभी सम्भव नहीं हो सकता।' *

शङ्कर ने अपने भाष्य का आरम्भ अध्यास की सम्भावना से किया है। इस आरम्भ की प्रासंगिकता का मण्डन करते हुए पद्मपाद कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान को अनर्थ अर्थात् बन्धन का नष्ट करने वाला बताते हुए सूत्रकार ने ही यह स्पष्ट लक्षित कर दिया कि बन्धन का कारण अज्ञान

❀ अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः ब्र० शां० भा० २। १

* अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य तप्यत्व मभ्युपगच्छसि तवैव सुतराम निर्मोक्ष प्रसंगः प्रसज्येत नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य—ब्रह्मसूत्र शां० भा० २। २। १०

है❀। 'विवरण-प्रमेय -संग्रह' का लेखक कहता है—बन्धन सत्य है या मिथ्या, इस विषय में श्रुति तटस्थ है; किन्तु श्रुति को संगत बनाने के लिए हम बन्धन की असत्यता या मिथ्यात्व की कल्पना करते हैं*।' क्योंकि 'यदि बन्धन सत्य हो तो वह कभी ब्रह्मज्ञान के द्वारा निवृत्त नहीं हो सकता।'* मतलब यह है कि ज्ञान से मोक्ष तभी सम्भव हो सकता है जब बन्धन अविद्यात्मक हो, अथवा प्रपञ्च और उसका आत्मा से संसर्ग मिथ्या हो। सांख्य का द्वैत ज्ञान द्वारा मोक्ष की सम्भावना का मण्डन नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रपञ्च के मिथ्यात्व के समर्थन में शङ्कर का मुख्य और मौलिक तर्क यह है कि इसको माने बिना मोक्ष की सम्भावना नष्ट हो जायगी।

ब्रह्म और प्रपञ्च के सम्बन्ध के विषय में भी शङ्कर के मौलिक विचार हैं। प्रपञ्च ब्रह्म में है, किन्तु ब्रह्म प्रपञ्च से परे है। वेदान्त स्पिनोज़ा की भाति सर्वेश्वरवादी नहीं है। श्रुति के अनुरोध से शङ्कर सृष्टि और प्रलय में विश्वास रखते हैं, और मानते हैं कि ब्रह्म जगत का कारण है। 'चेतन ब्रह्म जड़ जगत् का कारण है' शङ्कर ने इसका मण्डन करने तथा विरोधी आक्षेपों का उत्तर देने में काफी यत्न किया है। ब्रह्म जगत् का कारण है, पर वह परिणामी कारण नहीं है। स्वयं विकृत न होते हुए भी ब्रह्म जगत् का सृजन कर डालता है अथवा उसकी प्रतीति का हेतु बन जाता है। विश्व-प्रपञ्च ब्रह्म का विकार नहीं, उसका विवर्त्त है, जैसे शुक्ति की विवर्त्त रजत और रज्जु का विवर्त्त सर्प है। ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध को शङ्कर अध्यास कहते हैं; ब्रह्म में जगत् अध्यस्त है। इसी प्रकार अनात्मा

❀ दे० ब्रह्मसूत्र शां० भा० नव टीका सहित (कलकत्ता), पंचपादिका, पृ० ३८-४३

* श्रुते र्बन्ध सत्यत्वा सत्यत्वयो स्ताटस्थ्यात्। अस्माभिस्तु श्रुतो पपत्त्यर्थम् बन्धस्याविद्यात्मत्वं कल्प्यते। --विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० ८

* शंकर कहते हैं-- न तु पारमार्थिकं वस्तु कर्त्तुं निवर्त्तयितुं वार्हति ब्रह्मविद्या—बृह० भा० १। ४। १०

में आत्मा अध्यस्त है। 'जो जैसा नहीं है उस में वैसी बुद्धि होना अध्यास है।' प्रपञ्च ब्रह्म नहीं है, पर बिना ब्रह्म के आधार के उसकी सत्ता भी नहीं हो सकती। ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है। कारण की अपेक्षा से कार्य में जो नूतनता दीखती है उसका क्या रहस्य है? शङ्कर के मत में यह नूतनता अध्यास का परिणाम है। नूतनताएं कारण का विवर्त्त हैं। वेदान्त के अध्यासवाद और विवर्त्तवाद में सांख्य के सत्कार्यवाद तथा न्याय-वैशेषिक के आरम्भवाद का समन्वय हो जाता है। वेदान्त मानता है कि नूतनताओं का अविर्भाव होता है, किन्तु वह उन नूतनताओं को तात्त्विक नहीं मानता।

अध्यास की धारणा वेदान्त की अपनी मौलिक धारणा है। बौद्ध विचारक नागार्जुन ने तात्त्विक और अतात्त्विक के सम्बन्ध की समस्या को अछूता छोड़ दिया है। प्लेटो भी इस विषय पर विशेष प्रकाश नहीं डाल सका है। हीगल और ब्रेडले, तथा स्पिनोज़ा भी, तत्त्व पदार्थ को अतात्त्विक विवर्त्तों की समष्टि बता डालते हैं। वेदान्त तात्त्विक को कभी अतात्त्विक से समीकृत नहीं करता, वह अतात्त्विक को तात्त्विक का विवर्त्त-कार्य घोषित करता है। इस प्रकार जगत् ब्रह्म का कार्य होते हुए भी ब्रह्म की पूर्णता और पवित्रता को क्षुण्ण नहीं करता।

वेदान्त का विवर्त्तवाद और अध्यासवाद उसे पश्चिमी अध्यात्मवादियों की एक महत्त्वपूर्ण कठिनाई से बचा लेता है। ब्रह्म को विश्व-प्रक्रिया या विश्व- विवर्त्तों से समीकृत करने वाले दर्शन संसार में 'अशुभ' (Evil) के अस्तित्त्व की व्याख्या नहीं कर पाते। यदि विश्व पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्ति है तो उसमें पाप और दुःख क्यों पाये जाते हैं? हम ऊपर कह चुके हैं कि ब्रेडले ने ब्रह्म में सुख का अतिरेक स्थापित करने की चेष्टा की है। किन्तु जो हमारी दृष्टि से दुख या पाप है, उसे सिर्फ यह कह देने से सन्तोष नहीं होता कि वह ब्रह्म के समञ्जसरूप की रक्षा के लिए आवश्यक है। हीगल प्रगति की प्रतीति को भ्रम मानता है, उसके अनुसार पाप और दुःख की प्रतीति भी भ्रम ही है। वस्तुतः लाइबनिज़, हीगल और ब्रेडले तीनों के अनुसार यह दुनिया श्रेष्ठतम सम्भव सृष्टि है, इससे अच्छी

दुनिया हो ही नहीं सकती थी। लाइबनिज़ और हीगल दोनों के मत में विश्व-प्रक्रिया अनिवार्य रूप से पूर्णता की ओर बढ़ रही है। इन विचारकों के यह सिद्धान्त नैतिक पुरुषार्थ की भावना को शिथिल करने वाले हैं। क्योंकि वेदान्त विश्व को ब्रह्म की अभिव्यक्ति नहीं मानता, इसलिए उसमें पाप और दुःख की समस्या ऊपर कहे रूप में नहीं उठती।

वेदान्त अध्यास का कारण अविद्या को बताता है। वस्तुतः ब्रह्म के बाद अद्वैत-वेदान्त की सब से महत्त्वपूर्ण धारणा अविद्या या माया है। यह माया या अविद्या क्या है? माया को आकाश, अक्षर, अव्यक्त और प्रकृति भी कहा गया है। पद्मपादाचार्य ने माया को 'जड़ात्मिका अविद्या शक्ति' कहा है। शङ्कराचार्य भी माया को ईश्वर की शक्ति बतलाते हैं, जिसके बिना ईश्वर सृष्टि नहीं कर सकता *। माया की उपाधि सहित ब्रह्म को वेदान्ती ईश्वर कहते हैं, और यह ईश्वर जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। माया अनिर्वचनीय है, उसे न तात्त्विक कह सकते हैं, न अतात्त्विक, वह न सत् है न असत्; वह अनादि है किन्तु ज्ञान द्वारा नष्ट की जा सकती है। यह स्पष्ट है कि ईश्वर की शक्ति होते हुए भी माया कोई वाञ्छनीय पदार्थ नहीं है, उसे ज्ञान से नष्ट कर देना चाहिए। वेदान्ती ब्रह्म को सर्वशक्ति सम्पन्न मानते हैं—यद्यपि यह विशेषण उपाधि मूलक है—किन्तु प्रतीत यह होता है कि माया ब्रह्म की शक्ति को सीमित करती है। दुनिया के पाप और दुःख का पुष्कल हेतु अविद्या या माया है। एक जगह शङ्कराचार्य ने सृष्टि की उपयोगिता बतलाते हुए कहा है—यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते तदा अस्यात्मनो प्रज्ञानघनाख्यं निरुपाधिकं रूपं न प्रतिख्यायेत (बृह० भा० २।५।१०), अर्थात् यदि इस नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि न हो तो ब्रह्म का प्रज्ञानघन (चैतन्यमय या चैतन्यघन) रूप प्रसिद्ध न हो सके। इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि-प्रक्रिया ब्रह्म के चैतन्य की अभिव्यक्ति या साधन है। क्या इसका यह साफ निष्कर्ष नहीं है कि सृष्टि से पहिले माया-शबल ब्रह्म

* दे० ब्रह्मसूत्र शां० भा० १।४।३

अपने चिद्रूप में ठीक अभिव्यक्त न था ? उस समय की कम अभिव्यक्ति का कारण माया ही हो सकती थी, और यह अनुमान असंगत नहीं है कि सृष्टि क्रिया द्वारा ब्रह्म क्रमशः अपने स्वरूप को अधिकाधिक व्यक्त करके माया के आवरण का नाश कर रहा है। इस दृष्टि से देखने पर माया ब्रह्म की शक्तियों को सीमित करने वाली दृष्ट होती है; माया ब्रह्म की शक्ति ही नहीं, उसकी अशक्ति भी है। इस व्याख्या के अनुसार संसार के दुःख और पाप का उत्तरदायित्व ब्रह्म की इस अशक्ति पर रहेगा। वर्तमान काल में विलियम जेम्स आदि मनीषियों ने सीमित शक्तिवाले ईश्वर की कल्पना की है जो शैतान या पाप की शक्तियों से अजस्र युद्ध करता है और उस युद्ध में मानवता के नैतिक प्रयत्नों की अपेक्षा रखता है। ब्रह्म भी अपनी आवरक माया को हटाने का अजस्र यत्न कर रहा है, और अपने चिन्तन और मनन से हम मानव उसके प्रयत्न को आगे बढ़ा सकते हैं।

हीगल का पूर्णप्रत्यय या परब्रह्म पूर्ण होते हुये भी विश्व-विकास के आयास को क्यों स्वीकार करता है, इस का कोई समुचित समाधान नहीं दिया गया है। कहा जाता है कि विश्व-प्रक्रिया के माध्यम से पूर्णप्रत्यय आत्म-चेतना (Self-consciousness) को अधिक तीव्ररूप में प्राप्त करता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसकी व्याख्या रूपक द्वारा करने की चेष्टा की है। मा अपने बच्चे को उछालती है, क्यों ? इसलिए कि बाद को जब बच्चा लौट कर उसकी बाँहों में आये, तो वह उसके अपने होने का अधिक तीव्र अनुभव कर सके। परब्रह्म अपनी पूर्णता या आत्मचेतनता की अधिक तीव्र अनुभूति के लिए ही मानो उसे विश्व-प्रक्रिया में क्रमशः अभिव्यक्त होते हुये अनुभव करता है। यह सभी व्याख्याएं किसी न किसी रूप में यह स्वीकार कर लेती हैं कि प्रारम्भ में परब्रह्म कुछ अंशों में सीमित (Limited) था। इस दृष्टि से देखने पर वेदान्त और हीगल के अध्यात्मवाद में विशेष भेद नहीं है। वेदान्त माया को सान्त मानता है, इसका यही आवश्यक अर्थ नहीं है कि सुदूर भविष्य में माया और उसका

कार्य सृष्टि नष्ट हो जायँगे; * इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि विश्व-सृष्टि की चरम विकसित अवस्था में माया ब्रह्म का आवरण न रह कर सर्वथा उसके अधीन हो जायगी, वह वस्तुतः उसकी शक्ति, उसकी अभिव्यक्ति का साधन बन जायगी।

---

* अध्यास भाष्य में शंकराचार्य ने विश्व-प्रक्रिया को अनादि-अनन्त कहा है (एवमय मनादि रनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो), इससे हमारी व्याख्या की पुष्टि होती है। वस्तुतः, जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं, मोक्ष की संभावना के अतिरिक्त शंकर विश्व के मिथ्यात्व का कोई अच्छा प्रमाण नहीं दे पाए हैं। क्या मोक्ष का अर्थ प्रपञ्च और शरीर से छूटने के बदले उन पर पूर्ण आधिपत्य, जिस से अशुभ की संभावना न रहे, नहीं हो सकता? उस दशा में सृष्टि को ज्ञान द्वारा विलेय मानना आवश्यक नहीं रहता। (दे० पृ० १३०, नोट ३, ऊपर)।

: ५ :

नीतिधर्म और साधना

विषय-प्रवेश—अंग्रेजी में जिसे 'एथिक्स' कहते हैं उसे संस्कृत में नीति-शास्त्र या नीतिधर्म नाम से अभिहित किया जाता था। वस्तुतः संस्कृत का धर्म शब्द नीति-नियमों का पर्याय है, न कि अंग्रेजी 'रिलीजन' का। * 'रिलीजन' के लिये हमारी भाषा में कोई उपयुक्त पर्याय नहीं है, इसलिए हम, स्वर्गीय श्री बालगङ्गाधर तिलक का अनुसरण करते हुए, उसके लिये 'मोक्षधर्म' का प्रयोग करेंगे। जैसा कि प्रो० हिरियन्ना ने लिखा है 'रिलीजन' कुछ और हो या नहीं, वह निश्चित ही एक आदर्श की खोज (या आदर्शोन्मुखता) है, जो कि केवल विश्वासों और कर्मकाण्ड से सन्तुष्ट नहीं होती। * 'रिलीजन' अथवा तत्सम्बन्धी अनुभूति में जिस आदर्श का अन्वेषण होता है वह किसी न किसी अर्थ में पारलौकिक अर्थात् इस लोक का अतिक्रमण करने वाला होता है—उस आदर्श को चाहे ईश्वर कहा जाय, चाहे मोक्ष या निर्वाण। आदर्श के अस्तित्व में श्रद्धा और उसके चिन्तन में प्रायः आनन्दानुभूति भी रहती है; प्रायः 'रिलीजन' का आदर्श या उपास्य ईश्वर रहता है। नीचे की पंक्तियों में पाठक मोक्षधर्म को 'रिलीजन' का ही अपूर्ण पर्याय समझें।

भारतवर्ष में नीतिशास्त्र का विकास एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में नहीं हुआ, वह मोक्षधर्म का एक अङ्ग बना रहा। ऐसी दशा में वह या तो सम्प्रदाय-विशेषों के धार्मिक या पवित्र ग्रन्थों पर आधारित रहा, या

* तु० की० तिलक, गीता रहस्य हि० अ०, पृ० ६८

* हिरयन्ना, Outlines of Indian Philosophy, पृ० १८

दर्शनशास्त्र पर। शीघ्र ही हम भारतीय नीति-धर्म के इन दोनों रूपों पर दृष्टिपात करेंगे। नीतिशास्त्र के स्वतन्त्र रूप में विकसित न हो पाने का एक कारण यह भी था कि यहां किसी ने अरस्तू की भांति ज्ञान का शाखाओं में विभाजन या वर्गीकरण नहीं किया। योरुपीय इतिहास के मध्य-युग में, तथा यूनान में सुकरात से पहिले, वहां भी नीतिधर्म मोक्ष-धर्म पर अवलम्बित था, किन्तु सुकरात के समय से प्राचीन यूनान में और पुनर्जागृति के बाद आधुनिक योरुप में नीतिशास्त्र 'रिलीजन' से विच्छिन्न हो कर स्वतन्त्ररूप में विकसित होने लगा। आधुनिक विचारकों की प्रवृत्ति उसे दर्शनशास्त्र से भी अलग रखने की ओर है, * यद्यपि प्राचीन काल से दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र में गहरा सम्बन्ध रहता चला आया है। योरुप में दर्शन और 'रिलीजन' में प्रायःविच्छेद रहा है; यदि नीतिशास्त्र भी दर्शन से विच्छिन्न हो गया, तो दर्शन का मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध न रह जायगा।

जैसा कि हमने कहा भारतवर्ष में नीतिशास्त्र मोक्षधर्म पर आधारित रहा है। किन्तु यहाँ 'रिलीजन' या मोक्षधर्म शीघ्र ही दर्शनशास्त्र से प्रभावित होने लगा। जीवन का चरम पारलौकिक लक्ष्य क्या है, इस समस्या पर प्रकाश पाने के लिए यहां के धर्म-सम्प्रदाय दर्शन का मुह जोहने लगे। और जब दर्शनशास्त्र ने यह घोषित कर दिया कि जीवन का लक्ष्य मोक्ष है, तब नीति-शास्त्र का काम मात्र उन नियमों का निर्देश करना रह गया जिनके पालन से मुक्ति मिल सकती थी। इस प्रवृत्ति ने नीतिधर्म को 'साधना' का रूप दे दिया, एवं मोक्षार्थियों के लिए कर्म-मार्ग, भक्तिमार्ग, योगमार्ग और ज्ञानमार्ग आदि विभिन्न मार्गों या साधना-प्रकारों का निर्देश किया जाने लगा। एक बार यह निश्चय हो जाने पर कि जीवन का लक्ष्य इस लोक से बाहर की वस्तु अर्थात् मोक्ष है, भारतीय नीतिशास्त्र का काम मानव-जीवन के श्रेय (Good) के बारे में चिन्तन

* यहां दर्शन का अर्थ Metaphysics समझना चाहिए। तु० की० Sidgwick, History of Ethics (1931), पृ० २६५,२८४।

करना नहीं रह गया, और उसके अनुसार शुभ कर्म की कसौटी मोक्ष का साधन होना बन गई। यद्यपि सामाजिक और राजनैतिक जीवन के कर्णधार जिन नीति-नियमों का उपदेश करना आवश्यक पाते रहे उनका मोक्ष-प्राप्ति से कोई सीधा सम्बन्ध न था, फिर भी वे इस मत को प्रचारित करते रहे कि उन नीति-नियमों के पालन से कालान्तर में ज्ञान उत्पन्न होगा जिस से धार्मिक व्यक्ति क्रमशः मोक्ष-लाभ कर सकेगा।* इस प्रकार यद्यपि मोक्ष का आदर्श वैयक्तिक था, फिर भी उसका सामाजिक नीतिधर्म से बहुत काल तक विच्छेद नहीं हुआ। हिन्दू-साम्राज्य के पतनकाल में जब कर्म-सन्यास पर अधिक जोर दिया जाने लगा, तब भी भूतदया आदि गुण सन्यासी के लिये आवश्यक कहे जाते रहे। इस प्रकार नीतिशास्त्र के क्षेत्र में यहां व्यक्तिवाद और समाजवाद में सामञ्जस्य रखने की चेष्टा की गई। इस चेष्टा का पूर्ण विकास वेदान्त में दृष्टि-गोचर होता है।

योरुप में नीतिधर्म और मोक्षधर्म दोनों का विकास भिन्न रीति से हुआ। जैसा कि हमने कहा योरुप में दर्शन और मोक्षधर्म, फिलॉसफी और रिलीजन, लगभग विच्छिन्न रहे। वहां दर्शन ने नीति-धर्म को तो सहारा दिया, पर 'रिलीजन' या मोक्षधर्म को अकेला छोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वहां मोक्षधर्म कभी बुद्धि के लिए आकर्षक नहीं बन सका, और धीरे-धीरे वह नीतिधर्म पर अपना प्रभाव खो बैठा। यह बात आधुनिक योरुप के सम्बन्ध में और भी अधिक घटती है। योरुप के पढ़े-लिखे लोग नीति-नियमों को जानने के लिए ईसाई पादरियों पर निर्भर न करके बेन्थम, मिल, टामस ग्रीन आदि विचारकों की आलोचनाओं को पढ़ते और उन पर मनन करते हैं। दर्शन का बौद्धिक अवलम्बन रहने के कारण ही आज योरुप में लोगों पर 'रिलीजन' का प्रभाव नष्ट प्राय हो गया है।

एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में नीतिशास्त्र का विकास धर्मग्रन्थों आदि

* तु० की० वैशेषिक का दूसरा सूत्र।

के प्रभाव से मुक्त रह कर वैज्ञानिक ढंग से होता है। प्रत्येक विज्ञान वास्तविकताओं (Facts) के एक खास वर्ग की व्याख्या का प्रयत्न करता है। नीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय मानव जाति की नैतिक चेतना है। मनुष्य एक-दूसरे के व्यापारों पर अच्छाई-बुराई का निर्णय देते हैं, यह निर्णय-वाक्य किसी वास्तविकता को प्रकट करते हैं। यह वास्तविकता, मानव-व्यापारों की नैतिक अच्छाई-बुराई, ही नीतिशास्त्र के अध्ययन की वस्तु है। प्रायः लोग भिन्न-भिन्न व्यापारों पर भिन्न-भिन्न नैतिक निर्णय देते हैं, और यह सोचने को नहीं रुकते कि उनके विभिन्न निर्णयों में किसी प्रकार की एकता है या नहीं। वही व्यक्ति एक दशा में सत्य बोलने या हिंसा से बचने को पुण्य कहता है और दूसरी दशा में पाप। नीतिशास्त्र इन निर्णयों के एक आदर्श मानदण्ड या स्टैण्डर्ड को खोजने की चेष्टा करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नीतिशास्त्र मानवता के नैतिक निर्णयों को एक समष्टि का रूप देने की चेष्टा है, जैसे भौतिक विज्ञान हमारे जड़-जगत् सम्बन्धी कथनों या ज्ञान-खण्डों को समष्टि रूप देने का प्रयत्न है। * पश्चिमी विद्वान् शास्त्रों या विज्ञानों को दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं, एक यथार्थान्वेषीशास्त्र और दूसरे आदर्शान्वेषी (Positive and Normative) शास्त्र। इस विभाजन के अनुसार भौतिक विज्ञान यथार्थान्वेषीशास्त्र है क्योंकि उसका विषय जड़ जगत् की वास्तविकता है, और नीतिशास्त्र आदर्शान्वेषीशास्त्र है क्योंकि उसका काम मानव-व्यापारों के आदर्शरूप अथवा मानव-जीवन की आदर्शावस्था को खोज निकालना है। किन्तु शास्त्रों का यह प्रभेद कुछ विद्वानों को खटकता है। नीतिशास्त्र का काम किसी कल्पित आदर्श का सृजन करना नहीं है, अपितु उस आदर्श को प्रकट भर कर देना है जो कि युगविशेष की नैतिक चेतना अथवा नैतिक निर्णयों का प्रच्छन्न आधार है।

*** नीतिशास्त्र एक 'शास्त्र'** (Science) **है, इस के स्पष्टीकरण के लिए देखिए, जेम्स सेथ;** Ethical Principles; Wundt, Ethics, **तथा सिज्विक,** History, **पृ० २६५ और आगे।**

अनुभूतिवादी नीतिशास्त्र

योरुप में नीतिशास्त्र-सम्बन्धी वादों ने प्रायः दो रूप धारण किये हैं। एक प्रकार के विचारकों ने इस बात की विशेष खोज की है कि मानव-व्यापारों की नैतिक अच्छाई-बुराई कैसे पहचानी जाती है। उनका मत है कि मनुष्य में देखने, सुनने आदि की भांति नैतिक परख करने की भी एक अलग शक्ति, एक प्रकार की अन्तरिन्द्रिय, है जिसे सद्सद्बुद्धि (Conscience) कहते हैं।❀ यह शक्ति न केवल दूसरों के व्यापारों के नैतिक गुण बता देती है, वह प्रत्येक व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में यह भी बताती है कि उसका कर्त्तव्य क्या है। काण्ट, शेफ्ट्सबरी और बटलर इसी कोटि के विचारक हैं। काण्ट ने सदसद्बुद्धि के स्थान में कृत्यबुद्धि (Practical Reason) शब्द का प्रयोग किया है। इन विचारकों के अनुसार कर्त्ता को कोई व्यापार करते समय यह नहीं सोचना चाहिये कि उसका परिणाम क्या होगा, सिर्फ यह देख लेना चाहिये कि वैसा करना उसकी सदसद्बुद्धि या अन्तरात्मा के अनुकूल है या नहीं। अन्तरात्मा को हमारे यहां भी धर्म का स्रोत माना गया है; 'श्रुति, स्मृति, सज्जनों का आचार और अपनी अन्तरात्मा का प्रिय, यह चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।'* शकुन्तला पर मोहित होते हुये दुष्यन्त कहता है—'अवश्य ही यह रमणी क्षत्रिय के परिग्रह करने योग्य है, क्योंकि मेरा आर्य्य (शुद्ध) मन इस में साभिलाष है; संदिग्ध स्थलों में सज्जनों की अन्तःकरण-वृत्ति ही प्रमाण होती है।' काण्ट की कृत्यबुद्धि नैतिक आचार के निम्न लिखित सार्वभौम नियम का स्रोत है:—'उसी नियम या सिद्धान्त के अनुसार कर्म करो जिसे तुम सम्पूर्ण

❀ वस्तुतः Concience शब्द का हिन्दी में कोई उपयुक्त पर्याय नहीं है। स्वर्गीय तिलक ने उस के लिए 'सदसद् विवेक बुद्धि' का प्रयोग कियां था। हमने उसे ही संक्षिप्त कर लिया है।

* श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् मनु० २।१२

मानवता का नियम या सिद्धान्त बनाने की इच्छा कर सको।' जो वस्तुतः धर्म्य है वह सबके लिए वैसा होगा। यदि आप नहीं चाहते कि सब मनुष्य प्रतिज्ञा भंग करें, सब आत्महत्या करें, तो प्रतिज्ञाभंग और आत्म-हत्या पाप हैं। इसी तथ्य को एक संस्कृत सूक्ति में इस प्रकार प्रकट किया गया है, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्, अर्थात् जो अपने लिये बुरा लगता है वैसा दूसरों के लिये भी न करे। काण्ट का निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) इसी का भावात्मक रूप है।

हमने कहा कि इस कोटि के विचारक कार्यों का परिणाम सोचने के विरुद्ध हैं। मनुष्य को प्रत्येक कर्म कर्त्तव्य-बुद्धि से करना चाहिये, उसके फल या परिणाम के लिये नहीं। 'भले ही आकाश गिर पड़े, तुम्हें अपना कर्त्तव्य करना चाहिये', यह कहावत इसी मत की पोषक है। काण्ट कहता है कि कोई काम इसलिये मत करो कि उससे सुख होगा, बल्कि इसलिये कि वह तुम्हारा कर्त्तव्य है। गीता का भी यही आदेश है। कृष्ण कहते हैं—'हे अर्जुन! कर्म में ही तेरा अधिकार हो, फल में कभी नहीं।' कर्त्तव्यज्ञान कैसे हो, इसके उत्तर में काण्ट कृत्यबुद्धि के उक्त आदेश की ओर इंगित करता है, जब कि गीता कहती है कि कार्य और अकार्य, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र (वेद) ही प्रमाण है। *

लक्ष्यवादी सिद्धान्त

दूसरी कोटि के विचारक ऊपर के सिद्धान्त से विपरीत मत का प्रतिपादन करते हैं। कोई भी व्यापार कुछ गतियों का समूह है; वह स्वयं अपने में न अच्छा है न बुरा। किसी कर्म की अच्छाई-बुराई उसके परिणामों पर निर्भर है। नीतिशास्त्र का उद्देश्य जीवन के आदर्श या आदर्शावस्था का निश्चय करना है। इस आदर्श के निश्चित हो जाने पर उन कर्मों को जो व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेष को उस आदर्श की ओर ले जाने वाले है, अच्छा कहा जायगा, और उनके विपरीत कर्मों को हेय या बुरा। जीवन का आदर्श या आदर्शावस्था क्या है? यह प्रश्न

* तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।

दो रूप धारण कर लेता है; (१) व्यक्तिगत जीवन का आदर्श क्या है, और (२) सामाजिक जीवन के दृष्टिकोण से आदर्श या आदर्शावस्था क्या है। यहां वैयक्तिक और सामाजिक आदर्शों में विरोध की सम्भावना स्पष्ट है। नीतिशास्त्र के इतिहास में विभिन्न विचारकों ने कहीं वैयक्तिक और कहीं सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाते हुये विचार किया है। दोनों ही दृष्टिकोणों से जीवन के आदर्श की विभिन्न कल्पनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। इस कोटि के (अर्थात् लक्ष्यवादी) अधिकाश विचारकों का दृष्टिकोण वैयक्तिक रहा है। यह बात योरुप के सम्बन्ध में विशेषरूप से ठीक है। *

सुख-वाद

जीवन का आदर्श या आदर्शावस्था क्या है, इसके विभिन्न योरुपीय विचारकों ने विभिन्न उत्तर दिए हैं। किन्तु इन अनेक उत्तरों को दो मुख्य श्रेणियों में बाटा जा सकता है। (१) जड़वादी, अनध्यात्मवादी और वे विचारक जिनमें दार्शनिक पक्षपात कम हैं प्रायः जीवन का लक्ष्य सुख बतलाते हैं। यूनानी विचारक एपीक्यूरस का सुखवाद वैयक्तिक था। एपीक्यूरस के समय में यूनानी प्रजातन्त्र और स्वातन्त्र्य नष्ट हो चुका था, तथा सुखपूर्ण सामाजिक संगठन के अभाव में लोगों में व्यक्तिवाद (Individualism) बढ़ रहा था। सुखवादी होते हुए भी एपीक्यूरस चार्वाक की भाति भोगवादी नहीं था। वह सिखाता था कि सुखी रहने का सर्वश्रेष्ठ उपाय इच्छाओं का दमन करके सन्तुष्ट रहना है। सुखी होने के लिए निर्भय होना भी आवश्यक है। आत्मा अमर नहीं है, इस लिए परलोक का भय मिथ्या है। मृत्यु का भय भी मिथ्या है, क्योंकि जब तक हम हैं तब तक मृत्यु नहीं है, और जब मृत्यु आयगी तब हम नहीं होंगे। सुखी रहना ही न्याय है, यही धर्म है। आधुनिक सुखवादी (अथवा उपयोगितावादी) बेन्थम और मिल का कथन है कि मानव-जीवन का उद्देश्य सुख है, किन्तु यह सुख केवल वैयक्तिक नहीं, अपितु

*** सिज्विक ने अपने "इतिहास" का उद्देश्य "वैयक्तिक नीति-धर्म" का ऐतिहासिक विवरण देना बताया है। दे० पृ० ३.**

सामाजिक सुख है । हमारे कर्मों का उद्देश्य 'अधिकांश मनुष्यों का अधिकतम सुख' उत्पन्न करना होना चाहिए। एपीक्यूरस का स्वर निराशावादी था, आधुनिक सुखवाद, जिसका प्रतिपादन विज्ञान के अभ्युदय काल में हुआ था, आशावादी है। मिल यह भी मानता है कि सुखों में जातिगत (Qualitative) भेद होते हैं। कुछ सुख अधिक ऊंची कोटि के होते हैं, जैसे काव्य-शास्त्र के अध्ययन का सुख, और कुछ निम्न कोटि के, जैसे स्वादिष्ट भोजन का सुख ।

विकासवादी सुखवाद

विकासवादी स्पेन्सर भी सुखवादी है। किन्तु उसका विश्वास है कि सुखोत्पादक और जीवन-संरक्षक व्यापारों में प्रायः तादात्म्य रहता है, इसलिए हमारे कर्मों का उद्देश्य सुख-प्राप्ति और जीवन-रक्षा दोनों ही कहे जा सकते हैं। वस्तुतः सुख की इच्छा करते हुए भी हम अचेतनभाव से जीवनरक्षा में तत्पर होते हैं। बात यह है कि प्राणिवर्ग स्वभावतः सुख की कांक्षा करते हैं, और वे ही जीव-योनियां जीवित रह जाती हैं जिनके सुखान्वेषी व्यापार जीवन-संरक्षक भी सिद्ध हो जाते हैं। यदि किसी जीव-योनि के सदस्य ऐसे व्यापारों में सुखानुभव करते हैं जो उनके जीवन के लिए घातक हैं, तो वे कालान्तर में अवश्य ही नष्ट हो जाएँगे । इसलिए उन जीव-योनियों के सम्बन्ध में जो विकास के संघर्ष में विजयी हुई हैं, यह कहा जा सकता है कि उनके सदस्य यदि सुख को लक्ष्य बनायें तो वे जीवन-रक्षा भी कर सकेंगे। इस प्रकार स्पेन्सर सुखवाद का प्राणिशास्त्र या विकास-सिद्धान्त द्वारा मण्डन कर डालता है। उसके युक्तिक्रम का एक आधार यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि 'प्राणिवर्ग स्वभावतः सुख की इच्छा करते हैं।' (जॉन स्टुअर्ट मिल भी इस मन्तव्य को मनोवैज्ञानिक सचाई मानता था।) स्पेन्सर की दूसरी मान्यता (Assumption) यह है कि जीवन-रक्षा अथवा जीवन का परिणाम बढ़ाना वाञ्छनीय है।

अध्यात्मवादी नीतिशास्त्र

(२) अध्यात्मवादी विचारक सामान्यतः जीवन का लक्ष्य पूर्णता

(Perfection) या आत्मलाभ (Self.Realization) बतलाते है। यह विचारक वैयक्तिक और सामाजिक मागों का समन्वय करने की चेष्टा भी करते हैं। पूर्णता या आत्मलाभ क्या है, इसकी व्याख्या करना कुछ कठिन है। ग्रीन नामक विचारक का कहना है कि जीवन का उद्देश्य अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास करना है, क्योंकि मनुष्य बुद्धिजीवी प्राणी है, इसलिए उसे अपने बौद्धिक व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना चाहिए। वास्तविक श्रेय (True good) की इच्छा का क्या अर्थ है ? ग्रीन का उत्तर है कि विविध कलाओं तथा शास्त्रों का अनुशीलन तथा धार्मिक बनने की चेष्टा, यही वास्तविक श्रेय है। ग्रीन यह भी कहता है कि वास्तविक श्रेय की कामना प्रतियोगिता या संघर्ष को जन्म नहीं दे सकती; वास्तविक श्रेय प्रतिद्वन्द्विता से परे है। किन्तु लोक में यह स्पष्ट देखा जाता है कि सब लोग काव्यशास्त्र के अनुशीलन का अवसर नहीं पाते, और कोई व्यक्ति अपने बच्चों के तथा दूसरों के बालकों के पढ़ाने लिखाने पर एक साथ खर्च नहीं कर सकता। अभिप्राय यह है कि ज्ञानार्जन नामक श्रेय भी प्रतियोगिताशून्य नहीं है। हीगल ने नैतिक जीवन की सामाजिकता पर अधिक जोर दिया। वास्तविक व्यक्तित्व (Self) सामाजिक व्यक्तित्व है। कुटुम्ब में, समाज में, और राज्य में, उनके नियमों के रूप में, व्यक्ति की असली आत्मा, उसका बौद्धिक तत्त्व, अभिव्यक्ति पाता है, इसलिए मनुष्य का परम कर्त्तव्य समाज आदि के नियमों का पालन करना है। व्यक्ति को सामाजिक नियमों के बाहर आत्म-कल्याण की इच्छा नहीं करनी चाहिए। अंग्रेज विचारक ब्रेडले ने भी कर्त्तव्य की सामाजिकता पर जोर दिया है। समाज में जहा या जैसी मेरी स्थिति है उसके अनुकूल सामाजिक मांगों को पूरा करना ही मेरा परम कर्त्तव्य है। एक प्रकार से हीगल और ब्रेडले का मत क्रांतिकारी परिवर्त्तनों का विरोधी है। ब्रेडले ने स्वयं कहा है कि उसका सिद्धान्त अति-मानव (Superhuman) नीति, आदर्श राज्य आदि की कल्पना का विरोधी है। संक्षेप में, अध्यात्मवादी नीति के अनुसार

आत्मलाभ या पूर्णता का अर्थ जीवन को बुद्धि द्वारा नियमित अथवा समाज का अविरोधी बनाना है।

प्लेटो और अरस्तू भी कर्त्तव्य की सामाजिक व्याख्या के पक्षपाती थे। प्लेटो के आदर्श राज्य में, जिसकी बागडोर दार्शनिकों के हाथ में रहनी चाहिए, प्रत्येक मनुष्य को आँख मूंदकर शासकवर्ग की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। इन आज्ञाओं का उद्देश्य राष्ट्र की रक्षा और हितसाधन होगा। किन्तु प्लेटो और अरस्तू यह भी मानते हैं कि सामाजिक कर्त्तव्य पालन अपेक्षाकृत नीची कोटि का धर्म है, जीवन का सब से ऊँचा व्यापार दार्शनिक चिन्तन है। प्लेटो के अनुसार यह चिन्तन श्रेयस्-प्रत्यय के स्वरूप पर मनन करना है। अरस्तू भी मानता है कि बुद्धि-जीवी मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ व्यापार चिन्तन है। अरस्तू के ईश्वर का एक-मात्र काम आत्मचिन्तन में लीन रहना है। सामाजिक जीवन में मनुष्य का कर्त्तव्य 'अतियों' को त्यागकर मध्यमार्ग का अवलम्बन करना है। प्लेटो और अरस्तू दोनो ही मानते हैं कि दार्शनिकों के लिए भी प्रारम्भ में सामाजिक नीति-नियमों का पालन आवश्यक है, इसके बिना उनकी आत्मा दार्शनिक ज्ञान का ग्रहण करने के योग्य नहीं होती।*

भारतीय नीतिशास्त्र

हम कह चुके हैं कि भारतवर्ष में नीतिशास्त्र मोक्षधर्म या 'रिलीजन' के प्रभाव से मुक्त न हो सका, और उसका विकास एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में नहीं हुआ। मीमासा-सूत्रों के अनुसार धर्म का स्वरूप चोदना या प्रेरणा है; वह श्रुति की आज्ञाओं का समुच्चयमात्र है। वेदादि ग्रन्थों को छोड़ कर केवल बुद्धि की सहायता से भी कर्त्तव्य-निर्णय किया जा सकता है, इस पर भारतीय दार्शनिकों ने विशेष विचार नहीं किया। वेदों के बाद स्मृतिकारों ने भी धर्म का उपदेश आदेशों के ही रूपों में किया। हमारे धर्मशास्त्र-ग्रन्थ तरह-तरह के विधि-निषेधों से भरे पड़े हैं। स्मृति-

* दे० Encyclopeadia Britannica, 14th Edn., Ethics पर लेख, पृ० ७६३

ग्रन्थों का उद्देश्य जीवन के प्रत्येक अवसर के लिए नीति-नियमों का निर्देश करना है। इन नियमों का भङ्ग करनेवालों के लिए तरह-तरह के प्रायश्चित्तों का विधान है। विभिन्न नियम और प्रायश्चित्त जैसे हैं वैसे क्यों हैं, इसका समाधान करने की स्मृति-ग्रन्थ श्रुति की दुहाई देने के अतिरिक्त कोई चेष्टा नहीं करते।

यह नहीं कि प्राचीन भारत में नीति-विषयक या धर्म-विषयक जिज्ञासा नहीं थी। महाभारत के सैकड़ों आख्यान-उपाख्यान इस बात को सिद्ध करते हैं कि उस काल में लोग धर्माधर्म की समस्या में गहरी अभिरुचि रखते थे। महाभारत में हम जगह-जगह पढ़ते हैं कि अहिंसा परम धर्म है, सत्य परम धर्म है, और परोपकार परम धर्म है, और स्थल-स्थल पर हम इस बात की आलोचना पाते हैं कि कहा सत्य, हिंसा, क्षमा आदि नियमों का अपवाद करना चाहिए। उदाहरण के लिए, प्रह्लाद बलि से कहते हैं,

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता॥

अर्थात् 'हमेशा क्षमा करना चाहिये', इस नियम के पण्डितों ने अपवाद बतलाये हैं। महाभारत में ही हम पढ़ते हैं कि धोखा या दगा करनेवाले के साथ धोखा करना चाहिये, और सज्जन के साथ साधुता का व्यवहार करना चाहिये। इसी प्रकार सत्य के भी अपवाद कहे गये हैं। विश्वामित्र ने प्राणरक्षा के लिये कुत्ते का मांस खाया और जब उस श्वपच (चाण्डाल) ने जिसका वह मांस था, उन्हें कुत्ते के मांस की अभक्ष्यता सुझाई, तो विश्वामित्र ने उत्तर दिया कि 'तू चुप रह, तुझे धर्मशिक्षा देने का अधिकार नहीं है। मरने से जीना श्रेष्ठ है, जिन्दा रहेंगे तो बहुतेरा धर्म कर लेंगे।'*

महाभारत के अन्तर्गत ही गीता में कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विषयक तीव्र जिज्ञासा पाई जाती है। सम्भवतः विश्व-साहित्य में धर्माधर्म की जिज्ञासा

* महाभारत के इन अवतरणों के लिए दे० गीता रहस्य, पहला प्रकरण।

का इतना तेज रूप अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। किन्तु गीता में भी पाश्चात्य रीति से धर्म का स्वरूप निर्णय करने की स्वतन्त्र चेष्टा नहीं की गई है। गीता में विभिन्न 'मार्गों' के आपेक्षिक मूल्यांकन का प्रयत्न है— कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बारे में गीताकार भी शास्त्र को प्रमाण मानते हैं; एपीक्यूरस, मिल आदि की भांति गीता कर्त्तव्य के बारे में कोई नया सिद्धान्त देने का प्रयत्न नहीं करती।

भारतवर्ष में नीतिशास्त्र या धर्मशास्त्र का जनता के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। अंशतः श्रुति की मान्यता के कारण, और अंशतः व्यक्तिगत विचारकों में मौलिक कहलाने की महत्त्वाकान्क्षा न होने के कारण, यहां विभिन्न वादों का व्यक्तियों के नाम से प्रचार नहीं हुआ। इसलिए भारतीय नीतिशास्त्र का विश्लेषणात्मक विवरण देना सम्भव नहीं है। भारतीय मस्तिष्क सदैव से परमतसहिष्णु रहा, उसकी दृष्टि सदैव समन्वय की ओर रही है, और वह विभिन्न स्रोतों से सच्चाइयों को ग्रहण करता रहा है। यह सब चीजें मिलकर भारतीय नीतिशास्त्र को बड़ा जटिल रूप दे देती हैं जिसमें कभी-कभी विरोधी तत्त्वों को भी एकत्र देखा जा सकता है। नीचे हम भारतीय नीति-शास्त्र की प्रमुख विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा करेंगे।

(१) भारतीय नीतिशास्त्र का मूल स्रोत वेद या वैदिक धर्म है, किन्तु बाद का हिन्दू धर्म केवल वैदिक शिक्षाओं पर ही अवलम्बित नहीं रहा है। वेदों की मान्यता ने हमारे नीतिधर्म को निःस्पन्द और गतिहीन नहीं बना डाला, वह समय-समय पर दूसरे स्रोतों की विचारधाराओं से वर्धित और प्रभावित होता रहा। अब तक यह बात सिद्ध हो चुकी है कि हिन्दुओं के कई देवता, जैसे रुद्र-शिव, गणेश आदि आदिम अनार्यों के उपास्य थे। व्यक्तिगत विचारक भी वैदिक धर्म को बहुत कुछ परिवर्त्तित करते रहे। यह विचारक श्रुतियों के व्याख्याताओं में ही नहीं थे, उनमें से कुछ वैदिक धर्म से विद्रोह करने वाले भी थे। उदाहरण के लिए भगवान महावीर और गौतम बुद्ध जिनकी अहिंसा की शिक्षा ने बाद के

हिन्दू हृदय पर गहरा प्रभाव डाला, वेदविरोधी विचारक थे। वैदिक धर्म का यह वर्धिष्णु रूप उसकी ठीक-ठीक व्याख्या नितान्त कठिन बना देता है। ईसाई धर्म के कुछ निश्चित आदेश हैं, इस्लाम के भी कुछ निश्चित विधि-निषेध हैं; किन्तु वैदिक धर्म की आत्मा को पूर्णतया किन्हीं गिने-चुने विधि-निषेधों में प्रकट करना सम्भव नहीं है। वर्णाश्रम धर्म भी वैदिक धर्म का पूर्णरूप नहीं है; वैदिक या हिन्दू धर्म, विशेषतः अपने उत्तर काल में, ज्ञान और भक्ति को उतना ही महत्त्व देता है जितना कि वर्णाश्रम-व्यवस्था को। बल्कि कहना चाहिये कि बाद के हिन्दू धर्म में ज्ञान और भक्ति का महत्त्व वर्णाश्रम धर्म से भी बढ़ गया।

(२) हमने ऊपर कहा कि वैदिक धर्म आदेशात्मक है। इसमें सन्देह नहीं कि विधि-निषेधों की अधिकता ने भारतीय मस्तिष्क को नैतिक नियमों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र चिन्तन करने से रोका; किन्तु यह सत्य का एक पहलू है। धर्म-शास्त्रों के प्रणेता तथा दार्शनिक विचारक यह भली प्रकार जानते थे कि नीतिधर्म का पालन किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए है। प्रो० मैकेन्ज़ी ने लिखा है कि नैतिक वादों का विकास एक विशेष क्रम से हुआ है। पहले सदाचार का मानदण्ड (Standard) रीति-रिवाज थे; फिर राजा या ईश्वर के आदेश स्टैन्डर्ड बने; उसके बाद अन्तरात्मा या सदसद् बुद्धि (Conscience) की आवाज़; और अन्त में बुद्धिग्राह्य आदर्श अथवा जीवन का चरमलक्ष्य। भारतवर्ष में जहाँ साधारण जनता के लिए कुछ काल तक धर्म विधिनिषेधरूप था, वहां विद्वानों की दृष्टि में वह सुख का साधन था। यह निश्शंक होकर कहा जा सकता है कि भारतीय विचारकों के अनुसार जीवन का लक्ष्य सुख रहा है, वह सुख चाहे ऐहिक हो चाहे मोक्ष का परमानन्द। तैत्तिरीय उपनिषद् में बतलाया गया है कि मोक्ष का सुख सांसारिक सुखों से करोड़ों गुना अधिक है। वैशेषिक सूत्र में धर्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है—जिससे इस लोक में अभ्युदय हो और इस जीवन के बाद मोक्ष की प्राप्ति हो वह धर्म है। महाभारत में भीष्म कहते हैं:—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते ॥

अर्थात् 'मै बाँह उठाकर कहता हूं, पर कोई सुनता नहीं; धर्म से ही सम्पत्ति मिलती है, उसी से कामनाएँ पूरी होती हैं, ऐसे धर्म का सेवन क्यों नहीं करते ?' प्लेटो की "रिपब्लिक" में जो धर्म की व्यवस्था है वह भारतीय धर्म-शिक्षा से मिलती-जुलती है। किसी विधि-निषेध का चरम प्रयोजन क्या है, यह केवल रिपब्लिक के शासकों को मालूम रहेगा, शेष लोग विधि-निषेधों का बिना समझे पालन करेंगे। भारतीय शास्त्रकारों ने भी जनता के लिए यही ठीक समझा कि वह केवल श्रद्धा के बल पर उनके विधि-निषेधों का पालन करती रहे। किन्तु भारतीय जनता इतना अवश्य समझती थी कि धर्म का पालन इहलोक और परलोक के सुख के लिए है। इस विषय में कुमारिल और प्रभाकर के मतभेद का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। प्रभाकर का मत है कि लोग वैदिक विधियों का पालन कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर करते हैं, किसी फल के लिए नहीं। इसके विपरीत कुमारिल का विचार है कि उनके पालन की प्रेरणा इष्ट-साधनता-ज्ञान से मिलती है। कुमारिल का मत मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है। वस्तुतः भारतीय चेतना सदैव सुख-कांक्षिणी रही है। कुछ दर्शन दुःखनिवृत्ति को परम पुरुषार्थ मानते हैं, किन्तु साधारणतया दुःख-निवृत्ति की अभिलाषा सुखेच्छा का ही एक रूप है।

(३) धर्म का उद्देश्य सुख होते हुए भी भारतीय नीतिशास्त्र व्यक्ति-प्रधान नहीं है। वस्तुतः धर्म की धारणा ही सामाजिक है। 'धर्म का यह नाम इसलिए है कि वह धारण करता है, धर्म से ही प्रजाओं का धारण होता है।'* समाज की स्थिति के लिए धर्म अनिवार्य है। भारतीय वर्णाश्रम-धर्म का मूलाधार यही भावना है। प्रत्येक वर्ण के सदस्यों को अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए। चारो वर्ण एक ही ब्रह्म से

* धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।

उत्पन्न हुए हैं, और वे परस्पर कर्त्तव्य-सूत्रों से बंधे हैं। भारतीय वर्णाश्रम-व्यवस्था प्लेटो की रिपब्लिक से आश्चर्यजनक समानता रखती है। समाज के सब सदस्य एकसी बुद्धि और स्वभाव वाले नहीं हैं, इसलिए सबके कर्त्तव्य भी एक नहीं हो सकते। समाज में कुछ लोग अध्ययन-अध्यापन करेंगे, कुछ शस्त्रास्त्रों का प्रयोग सीखेंगे और कुछ व्यापार तथा सेवा करेंगे। भारतीय व्यवस्था ब्राह्मणों को राज शक्ति का अधिष्ठान नहीं बनाती, ब्राह्मण राजाओं को मन्त्रणा अवश्य दे सकते हैं। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ लार्ड ऐक्टन ने कहा है कि शक्ति मनुष्य को भ्रष्ट करने वाली है, अनियन्त्रित शक्ति नितान्त भ्रष्ट करने वाली है। भारतीय व्यवस्था ब्राह्मणों को जो कि आध्यात्मिक उन्नति के नेता हैं, इस शक्ति से अलग रखती है। ब्राह्मण के लिए व्यापार भी नहीं है; उसे धन से भी अलग रहना चाहिए। प्रत्येय व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुकूल आचरण करना चाहिए। यह सिद्धान्त हीगल और ब्रेडले की शिक्षाओं के समान ही है। भेद यही है कि भारतीय दृष्टि में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक ही ईश्वर की सृष्टि अथवा राज्य है, और उसके भीतर सब प्राणियों को एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-भावना रखनी चाहिए। हिन्दुओं के नित्य कर्मों में पांच महायज्ञ भी हैं, जिनमें से एक भूतयज्ञ है। भूतयज्ञ का अर्थ है चींटी, कौवे आदि छोटे जीवों को खाद्य सामग्री देना। गीता में 'देवयज्ञों' की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि यज्ञ के साथ प्रजाओं को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने कहा—'इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी वृद्धि होगी'.....'तुम इस यज्ञ से देवताओं को सन्तुष्ट करो, और देवता तुम्हे सन्तुष्ट करते रहें। यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले लोग सब पापों से मुक्त हो जाते हैं।' इसी प्रकार ऋग्वेद में कहा है—केवलाघो भवति केवलादी, अर्थात् अकेले खाने वाला पापी होता है। मनुस्मृति भी कहती है—अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्, अर्थात् जो केवल अपने लिए पकाता है वह पाप ही खाता है।* इस प्रकार भारतीय नीतिधर्म पूर्णतया सामाजिक, बल्कि

* दे० गीतारहस्य पृ० ६५४

उससे भी आगे बढ़ कर विश्वजनीन है । वह व्यक्तिवाद का एकान्त विरोधी है। गीता कहती है कि सर्वव्यापक ब्रह्म नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है। यज्ञ का मूल-स्रोत ब्रह्म है, और ब्रह्म के चलाये हुए इस सृष्टि-चक्र का अनुवर्त्तन करना परम-कर्त्तव्य है।

यहां पाठक यह नोट करें कि योरुपीय नीतिशास्त्र का स्वर व्यक्तिवादी है। जिन अध्यात्मवादी पद्धतियों में व्यक्तिवाद का अतिक्रमण करने की चेष्टा की गई है, वहां भी नीतिशास्त्र समाज-विशेष या राष्ट्र-विशेष की सीमाओं के बाहर नहीं जा सका है। प्लेटो के नागरिक का कर्त्तव्य अपनी रिपब्लिक के सदस्यों तथा उसकी सीमाओं तक सीमित है। यही बात हीगल, ब्रेडले आदि के मन्तव्यों के बारे में कही जा सकती है। योरुप के आधुनिक चिन्तक अपने नागरिकों को सम्पूर्ण मानव-जाति के प्रति कर्त्तव्य-बुद्धि रखने की शिक्षा नहीं देते, वे कट्टर राष्ट्रवादी (Nationalists) हैं। इसके विपरीत भारतीय नीतिकारों ने पशु-जगत् और देवलोक, मरे हुए पितरों तथा आगे आने वाली पीढ़ियों, सब के प्रति कर्त्तव्य-बुद्धि रखने का उपदेश दिया है।

(४) यहां हम पाठकों का ध्यान योरुपीय तथा भारतीय नीति शास्त्रों के सबसे महत्त्वपूर्ण भेद की ओर आकर्षित करेंगे। जैसा कि हमने कहा, योरुपीय नीतिशास्त्र का दृष्टिकोण वैयक्तिक है, वह मुख्यतः व्यक्ति के श्रेय पर विचार करता है। उसकी दृष्टि प्रायः व्यक्ति के ऐहिक जीवन पर रहती है, और आधुनिक काल में उसका सर्वसम्मत निष्कर्ष यह है कि संसार में नैतिक दृष्टि से सब से ऊंची चीज व्यक्तित्व (Personality) है और नैतिक जीवन का उद्देश्य इस व्यक्तित्व का विकास करना है।* इस व्यक्तित्व के विकास का ऊंचे से ऊंचा अर्थ जो योरुपीय नैतिक ग्रन्थों से निकाला जा सकता है, वह यही है कि काव्यशास्त्र और कलाओं द्वारा व्यक्तित्व को संस्कृत किया जाय। व्यक्तित्व का इस प्रकार पोषण ही आत्मलाभ है। इससे यह स्पष्ट है कि योरुपीय नीतिशास्त्र जीवन के एक परिमित या सीमित श्रेय का प्रतिपादन करता है।

* दे० सिज्विक, वही, पृ० २८८

किन्तु भारतीय नीतिशास्त्र का ध्येय अपरिमित या असीम है; वह व्यक्तित्व की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाला है। शारीरी आत्मा का व्यक्तित्व सीमित व्यक्तित्व है, भारतीय नीतिशास्त्र उसके पोषण का उपदेश नहीं देता। वेदान्त के अनुसार मन, अन्तःकरण आदि आत्मा की उपाधियां हैं, वे आत्मा को सीमित करने वाले हैं। इसलिए मन और बुद्धि को सस्कृत करना जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने का एक साधन हो सकता है, स्वयं साध्य नहीं। जीवन का चरम लक्ष्य आत्मा का परमात्म-भाव प्राप्त करना है। योगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध जीवन और योग का उद्देश्य है; प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इनके निरुद्ध होने पर ही आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति होती है। अन्य दर्शनों के अनुसार भी अन्तःकरण एवं अहंता का निरोध ही परम ध्येय है। बौद्ध निर्वाण का अर्थ है अहंता का पूर्ण विनाश अथवा व्यक्तिभाव का अतिक्रमण।* ससीम व्यक्तिभाव अथवा अहंभाव को छोड़ देने पर ही मनुष्य असीम में लय होने के योग्य बनता है। भारतीय दर्शन का दृढ़ विश्वास है कि व्यक्तित्व की सीमाओं में घिरे रह कर वास्तविक आनन्द को प्राप्त नहीं किया जा सकता। 'जो भूमा है, जो असीम है, वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है।' व्यक्तित्व परिच्छिन्नता का प्रतीक है, उसके अतिक्रमण से ही अनन्त की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में आत्मलाभ का अर्थ सीमित व्यक्तित्व का पोषण नहीं, उसका निषेध है; आत्मा का अपने अनन्त चिन्मयरूप में अवस्थित होना ही वास्तविक आत्मलाभ है। यह आवश्यक नहीं कि इस प्रकार की स्थिति मृत्यु के बाद ही प्राप्त हो, जीवित रहते हुए भी व्यक्तित्व की सीमाओं को पार कर जाना सम्भव है। जिसे हमारे शास्त्रकार जीवन्मुक्त

*** भारतीय चित्रकला में भी व्यक्ति प्रधान नहीं है, और हमारे नाट्य-साहित्य का उद्देश्य पात्रों के व्यक्तित्व का चित्रण न होकर प्रेक्षकों को रसानुभूति में लीन करना होता था। इसके विपरीत मुगल चित्रकला और योरुपीय नाटक व्यक्ति प्रधान हैं।**

कहते है, और जिसे गीता में स्थितप्रज्ञ कहा गया है, वह शरीरी रहते हुए भी अहंभाव अर्थात् व्यक्तित्व के बन्धनों से मुक्त रहता है।

यद्यपि स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त पुरुष का लक्ष्य व्यक्तिगत मोक्ष या पूर्णता होती है, फिर भी उसे व्यक्तिवादी नहीं कहा जा सकता, और न उसमें तथा समाज में किसी प्रकार का विरोध हो सकता है। विरोध की सम्भावना वहीं होती है जहा दो भिन्न स्वार्थ हों, किन्तु मुमुक्षु स्थितप्रज्ञ का कोई अपना स्वार्थ नहीं रहता। इसलिए, यद्यपिभारतीय नीतिशास्त्र भी व्यक्तिगत पूर्णता को लक्ष्य घोषित करता है, तथापि उसमें व्यक्ति और समाज के झगड़े का उठना सम्भव नहीं रहता। इसके विपरीत प्रायः सब योरुपीय नीतिशास्त्री वैयक्तिक और सामाजिक स्वार्थों के संघर्ष का निपटारा करना कठिन पाते हैं। सुखवाद के प्रतिपादक इसका कोई बुद्धिसगत कारण नहीं बता पाते कि व्यक्ति समाज के हित के लिए अपने सुख का बलिदान क्यों करे अथवा वह सामाजिक सुख को अपना ध्येय क्यों बनाये! अध्यात्मवादी विचारकों की पूर्णता या आत्म-लाभ की व्याख्या भी व्यक्ति और समाज की समस्या का उचित हल नहीं कर पाती। जैसा कि हमने ऊपर कहा, विद्या, आत्मसंस्कार (Self-Culture) आदि श्रेय पदार्थ भी प्रतियोगिता तथा संघर्ष को जगाने वाले हैं।

(५) व्यावहारिक जीवन में मनुष्य कितना ही अच्छा क्यों न बने, फिर भी उसकी अच्छाई बुराई द्वारा सीमित रहती है। जब तक हमें दुष्ट प्रवृत्तियों से लड़ना पड़ता है, तब तक हम अपूर्ण ही कहे जायंगे। और जब मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियां सर्वथा विजित्त और नष्ट हो जाती हैं तब वह वस्तुतः नैतिक जगत का प्राणी नहीं रहता, अपितु मुक्त या जीवन्मुक्त हो जाता है। भारतीय नीतिशास्त्र का लक्ष्य यही नैतिक जीवन से परे हो जाना है। इस प्रकार भारतीय विचारक नैतिक जीवन को साध्य न मान कर साधन मानते हैं। नीतिधर्म का पालन अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति के लिए है; जिस मंजिल पर हमें पहुंचना है, नैतिक जीवन उसका मार्गमात्र है। इसीलिए भारतीय वर्णाश्रम-व्यवस्था चतुर्थ आश्रम में संन्यास का

विधान करती है। स्वयं वर्णाश्रम धर्म इस मान्यता पर आधारित है कि समाज के सब मनुष्य एक ही प्रकार के कर्मों का पालन करने के उपयुक्त नहीं है; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के अलग-अलग कर्त्तव्य हैं। अभिप्राय यह है कि नीतिधर्म के नियम आपेक्षिक हैं, वे देशकाल और स्वभाव की अपेक्षा से विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। आगे चलकर भारतीय नीतिशास्त्र अथवा मोक्षधर्म यह भी मान लेता है कि स्वयं वर्णाश्रम धर्म ही मोक्ष का एकमात्र साधन नहीं है। मोक्ष के दूसरे मार्ग भी हो सकते हैं, जैसे योगमार्ग और भक्तिमार्ग। यहां यह कह देना आवश्यक है कि भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न मार्गों पर ज्यादा जोर दिया जाता रहा है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि देश की राजनैतिक परिस्थिति भी मुमुक्षुओं की साधना का स्वरूप निर्धारित कर सकती है। किन्तु सामान्यतः, शाङ्कर वेदान्त के उदय से पहले, वर्णाश्रम धर्म का पालन मुमुक्षुओं के लिए भी नितान्त आवश्यक समझा जाता था। मनु जी कहते हैं—

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा प्रजाम्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥*

अर्थात् पहले आश्रम में वेदों का अध्ययन न करके तथा दूसरे आश्रम में सन्तानोत्पत्ति और यज्ञ न करके मोक्ष की इच्छा करनेवाला द्विज पतन को प्राप्त होता है। यहां मनु जिस सचाई का निर्देश करना चाहते हैं वह नैतिक की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक अधिक है। पहले ही आश्रम से संन्यास ले लेने में डर है, जिसने सांसारिक भोगों को नहीं जाना है उसका मस्तिष्क उनकी विकृत कल्पनाओं का केन्द्र बन सकता है। इसलिए, मानसिक शांति और स्वास्थ्य के लिए, गृहस्थाश्रम के बाद ही संन्यास लेना श्रेयस्कर है। किन्तु नैतिक या सैद्धान्तिक दृष्टि से वर्णाश्रम का क्रम अनिवार्य नहीं है, ज्ञानमार्ग के हिमायतियों ने इसी पर ज़ोर दिया है। अवश्य ही वेदान्त का ज्ञानमार्ग वर्णाश्रम-व्यवस्था का

* मनुस्मृति, ६।३७

विरोधी बन जाता है। उत्तरकाल के वेदान्ती गीताकार भगवान के अपने जीवन को भूल गए। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यद्यपि मुझे कोई प्राप्य चीज अप्राप्य नहीं है, और यद्यपि मैं कर्त्तव्यों की भूमिका से ऊपर उठ गया हूं, फिर भी मैं लोक-संग्रह के लिए कर्म करता हूं।

'लोक संग्रह' के लिए, यह वाक्यांश भारतीय नीतिधर्म और मोक्ष-धर्म के हृदय को प्रकट करता है। मुमुक्षु को किसी भी दशा में स्वार्थ से प्रेरित होकर कर्मों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। हम निर्देश कर चुके हैं कि वर्णाश्रम-धर्म में भी कर्त्तव्य-बुद्धि को प्रधानता दी गई है, वह धर्म भी अन्ततः मोक्षप्राप्ति का ही साधन-भूत है। किन्तु गृहस्थ जीवन में रहते हुए, सम्पत्ति आदि के लिए संघर्ष करते हुए, कोई व्यक्ति सर्वथा निःस्वार्थ नहीं हो सकता। कुछ लोगों का विचार है कि अपने में केन्द्रित युवक विवाह के बाद कुटुम्ब के दूसरे सदस्यों के लिए त्याग करना सीखता है। किन्तु यह एक आंशिक सत्य है; गृहस्थी का भार स्वार्थ-भावना को उत्तेजित भी करता है। मनु ने जो काम-वासना के सम्बन्ध में कहा है वह शक्ति तथा ऐश्वर्य-वासना के बारे में भी ठीक है, हव्य से अग्नि की भांति वे अपने विषयों के भोग से निरन्तर बढ़ती ही हैं। गृहस्थाश्रम में रह कर मनुष्य को बरबस संकीर्ण बन जाना पड़ता है, वह अपने और दूसरों के बच्चों में भेद करना सीखता है, और सामाजिक आदर की आधार धन-सम्पत्ति में भी ममता-दृष्टि बनाये रखता है। इसीलिए वर्णाश्रम-व्यवस्था गृहस्थ के बाद, जब लड़के के बच्चा हो जाय, गृह-त्याग का उपदेश देती है।* गृहस्थी के भार से मुक्त होकर ही पुरुष पूर्णतया उदार और सार्वभौम दृष्टिकोण को अपना सकता है।

जिनकी मोक्षाकांक्षा तीव्र है, और जो कर्म-लोक से भयभीत नहीं होते, ऐसे कर्मण्य लोगों के लिए निष्काम-कर्म का विधान है। कर्म अपने में बुरी चीज नहीं है, वही कर्म बांधने वाला होता है जिसकी प्रेरणा स्वार्थ में होती है। 'यज्ञार्थ, अर्थात् लोक-संग्रहार्थ, कर्म से अतिरिक्त

* मनुस्मृति, ३। २

कर्म ही बन्धन का हेतु होता है।'❀ जिसने काम्य कर्मों का त्याग कर दिया है, अथवा जिसने कर्मफलों को ईश्वर के अर्पित कर दिया है, वह संन्यासी है, वह त्यागी है।* अग्नि न जलाने वाला अकर्मण्य व्यक्ति त्यागी या सन्यासी नहीं है।‡ वस्तुतः त्याग और संन्यास मन के धर्म हैं। जो ससीम भोगैश्वर्य का इच्छुक है, वह साधारण लौकिक व्यक्ति है; और जो क्षुद्र स्वार्थों को छोड़कर अपरिमीम परमात्म-भाव का अनुरागी है, वह संन्यासी या मुमुक्षु है।

मोक्ष के दूसरे मार्ग भी इसी केन्द्रीय सिद्धात पर अवलम्बित हैं। भक्तिमार्ग उन लोगों के लिए है जो अधिक रागात्मक-वृत्ति वाले हैं। भक्तिमार्ग यह सिखाता है कि साधक अपनी इच्छाओं और वासनाओं को ससीम पदार्थों से हटाकर असीम परमात्मा की ओर लगाये। इस प्रकार साधक की वासनाएं और मनोवेग शुद्ध हो जाते हैं। इसके विपरीत ज्ञान-मार्ग का पथिक यह सीखने की चेष्टा करता है कि वह वस्तुतः असीम और चिन्मय है; उसका क्षुद्र शरीर और उसकी वासनाओं से कोई वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं है। ज्ञानी अपने उद्दाम चिन्तन के बल पर जिस असीम से तादात्म्य प्राप्त करना चाहता है, भक्त उसी में भावावेश द्वारा तन्मय हो जाता है। इन दोनों से भिन्न योगी मनोवैज्ञानिक साधनों द्वारा ससीम की चेतना का उच्छेद कर डालना चाहता है। 'चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा की स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है।'*

इस प्रकार मोक्ष-साधना के विभिन्न मार्गों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। उनके रूप अलग होते हुए भी उनकी 'स्पिरिट' वही है। भारतीय

❀ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्म बन्धनः—गीता, ३। ६

* काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यास कवयो विदुः
सर्व कर्म फल त्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः—गीता, १८। २

‡ न निरग्निर्न चाक्रियः—वही।

* तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्—योगसूत्र।

मोक्षधर्म इस बात को मानता है कि साधक को किसी न किसी स्टेज (भूमिका) पर पहुँच कर ससीम के मोह को छोड़ देना चाहिए; इसके बिना अनन्त की प्राप्ति सम्भव नहीं है। असीम आनन्दमय मोक्ष ससीम ऐहिक विभूतियों का न तो योग है न उनका पर्यवसान।※ वह ससीम से एक भिन्न कोटि की चीज है। मुक्त होने का अर्थ ऐहिक भोगैश्वर्यों को प्रचुरता में प्राप्त करना नहीं है जैसा कि दूसरे धर्मों की स्वर्गादि-कल्पनाएँ बतलाती हैं, अपितु एक नितान्त भिन्न भूमिका में पहुंच जाना है जहाँ इस जगत् की बाधाएँ और सीमाएँ दूर छूट जाती हैं।

यह कहना गलत है कि भारतीय नीतिशास्त्र या मोक्ष धर्म की प्रवृत्ति अभावात्मक (Negative) है। भारतीय चेतना सदैव सुखाकांक्षिणी रही है। भारतीय साहित्य की शृङ्गारिकता और सरसता इस बात की द्योतक है कि भारतीय सुखभोग के प्रति विरक्त नहीं रहे हैं। चाहें हम भारतवर्ष के शृङ्गार-काव्य को लें, चाहे भक्ति-काव्य को, यह स्पष्ट है कि भारतीय चेतना अपने अन्तरतम तक रसमयी है। भारत में सम्भवतः उस समय कामशास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन हुआ जब योरुप के अधिकांश देश काम-शास्त्र का नाम भी नहीं जानते थे। भारतीय पुराण भी यहां की कल्पना के नितांत सरस और सजीव होने की साक्षी देते हैं। वास्तव में भारतीय साहित्यिकों की नारी के व्यक्तित्व में आवश्यकता से अधिक अभिरुचि रही है। किन्तु नारी का व्यक्तित्व मोहक होते हुए भी अस्थिर और ससीम है और भारत का सम्वेदनशील चिन्ताकुल मस्तिष्क उससे सन्तुष्ट न रहकर ध्रुव असीम की खोज में दौड़ पड़ता है। लोक में प्रवाद है, या मृगनयनी या मृगछाला, अर्थात् या तो इस लोक में प्रचुर सुख—भोग मिले, या फिर दुनिया को छोड़कर मोक्ष-साधना करे। किन्तु इस लोक में सम्भवतः चक्रवर्त्ती राजा के अतिरिक्त किसी का ऐश्वर्य एक सम्वेदनशील मेधावी व्यक्ति को

※ **अंग्रेज़ी में इसे यों कहेंगे**—The Infinite is neither a — summation nor a consummation of the finite series.

आकर्षित नहीं कर सकता, इसलिए ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही संसार से विरक्त हो जाता है। भारतीय चेतना थोड़े से, ससीम से, सन्तुष्ट नहीं होती। भारतीय कल्पना ने वर्त्तमान विज्ञान से सैकड़ों वर्ष पहले करोड़ों ब्रह्माण्डों की कल्पना कर डाली थी। 'आलोक-वर्ष, (Light year) की कल्पना से पहले ही भारतीय गणक युगों और कल्पों द्वारा काल-गणना करते थे। इस प्रकार जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को अभावात्मक बताना भारतीय मस्तिष्क के घोर अज्ञान का द्योतक है। इसी प्रकार भारतीय दर्शन को निराशावादी कहना भी निराधार है। मोक्ष की धारणा भारतीय दर्शन की केन्द्रगत धारणा है, मोक्ष में विश्वास होने का अर्थ अनन्त जीवन और अविनश्वर आनन्दरूपता की सम्भावना में विश्वास है।

भारतीय नीतिधर्म की प्रमुख विशेषताएं सूत्ररूप में इस प्रकार प्रकट की जा सकती हैं:—(१) नीतिधर्म का आधार मोक्षधर्म है; भारतीय नीतिधर्म का ध्येय नीतिधर्म से परे है। नीतिधर्म का सम्बन्ध ससीम जगत् से है, जबकि जीवन का ध्येय असीम मोक्षानन्द है। (२) इस प्रकार नीतिधर्म की सत्यता आपेक्षिक है और वह विभिन्न कोटि के पुरुषों के लिये विभिन्न रूप धारण कर सकता है। हिन्दू धर्म सब के लिए एक ही मार्ग का अवलम्बन वाञ्छनीय नहीं समझता। वह विभिन्न मस्तिष्कों और स्वभावों वाले मनुष्यों के लिए अनेक प्रकार की साधनाओं का निर्देश करता है। हिन्दू धर्म में नितान्त अज्ञानी, मूर्ख और पिछड़े हुए पुरुषों के लिए साधना और उपदेश है; वह अत्यन्त मेधावी तर्कनाशील और उन्नत व्यक्तियों के लिए भी शिक्षा और साधना का निर्देश करता है। इस प्रकार हिंदू धर्म में सबके लिए जगह है।* उसमें सब धर्मों की सचाइयों का समन्वय हो जाता है।

योरुपीय नीतिशास्त्र व्यक्तित्व के पोषण की शिक्षा देता है, और भारतीय नीतिशास्त्र या मोक्षधर्म अहंता के विनाश की; एक का उद्देश्य ऐहिक सुखों को उनके चरम उत्कर्ष में प्राप्त करना है, दूसरे का

* दे० एनी बीसेण्ट Four Great Religions (१६०१), पृ० ३१

उनकी ससीमता से ऊपर उठ कर असीम में लीन होना। भारतवर्ष में जनता के जीवन पर मोक्षधर्म और दर्शन का पूरा शासन रहा है, भारतवर्ष ने सदैव त्यागी संन्यासियों का आदर किया है, और मोक्ष के आदर्श को आदर की दृष्टि से देखा है। भारतीय चेतना यह मानती रही है कि सीमित भोगैश्वर्यों का मोह न छोड़ सकना एक प्रकार की कमजोरी है। यहां कट्टर से कट्टर मीमांसक भी, जिसका काम मोक्ष के प्रति उदासीनता की शिक्षा देना था, मोक्षकामी साधकों को पूज्य ही समझते रहे।

योरुप में भी ईसाई धर्म का जनता के जीवन पर काफी दिनों तक प्रभाव रहा। ईसाई धर्म की मूल शिक्षा यह है कि मनुष्य का असली स्थान दूसरी दुनिया में है, और यह दुनिया वहां जाने के लिए तैयारी करने की जगह है। किन्तु ईसाइयों की दूसरी दुनिया भारतीय पुराणों के स्वर्ग से विशेष भिन्न नहीं है। वास्तव में स्वर्ग की कल्पना ऐहिक सुखों की अभिलाषा का ही अतिरंजितरूप है। स्वर्ग के विश्वासी बताते हैं कि वहां इस जगत के सुखों को ही प्रचुर मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है। यदि स्वर्ग के सुख सांसारिक सुखों से भिन्न नहीं है, तो उनके लिए प्रत्यक्ष प्राप्त भोगैश्वर्यों का तिरस्कार क्यों किया जाय? यह स्पष्ट है कि स्वर्ग की कल्पना मनुष्य को क्षुद्र भोगैश्वर्यों से विरक्त नहीं कर सकती। ईसाई धर्म की जीवनादर्श की कल्पना बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं कर करती, इसलिए वह शीघ्र ही विचारशीलों पर अपना प्रभाव खो बैठा। विज्ञान के अभ्युदय और डार्विन के विकासवाद ने ईसाई धर्म के प्रभाव को सर्वथा नष्ट कर दिया।

धर्म का प्रभाव नष्ट या कम होने के फल-स्वरूप योरुप के लोग स्वर्ग अथवा परलोक और ईश्वर की ओर से विरत होने लगे। उसी अनुपात में उनका ऐहिक पक्षपात बढ़ने लगा। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) ने तरह-तरह की भोग-सामग्री प्रस्तुत करके इस ऐहिक प्रवृत्ति को उत्तेजना दी। योरुप ने एशिया और अफ्रीका के

महाद्वीपों पर आर्थिक और राजनैतिक आधिपत्य स्थापित किया, इस घटना ने भी वहां की ऐहिक और जड़वादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया।

किसी देश में वहां के लोगों की मनोवृत्ति के अनुकूल ही नीतिधर्म अथवा नैतिक आदर्शों का स्वरूप निर्धारित होता है, और यदि कुछ विचारक एक नये आदर्श का उपदेश करने लगें, तो उस आदर्श की व्याख्या जनता अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल कर लेती है। प्रजातन्त्र के अभ्युदय के बाद योरुप में अध्यात्मवादी दर्शनों का प्रभाव कम होता गया है। विशेषतः इंग्लैंड में, जो प्रजातन्त्र की जन्मभूमि समझी जाती है, मिल के सुखवाद या उपयोगितावाद का बहुत प्रभाव पड़ा। अध्यात्मवादियों की 'आत्म-लाभ' की शिक्षा की सुखवादी व्याख्या असम्भव न थी, वस्तुतः आत्मलाभ का सिद्धान्त ऐहलौकिक ही था। ग्रीन ने बताया था कि जीवन का ध्येय व्यक्तित्व का बौद्धिक अंश (Rational Self) का विकास अर्थात् काव्यशास्त्र का अनुशीलन, सत्य और सौन्दर्य का अन्वेषण, है। किन्तु ग्रीन प्रभृति विचारक आत्मा की अमरता के समर्थक न थे, और इस जीवन से परे व्यक्तित्व के शेष रहने में विश्वास नहीं रखते थे। इसलिए उनकी शिक्षा बढ़ते हुए भोगवाद के प्रवाह को रोकने में असमर्थ रही। यदि इस जीवन से परे कुछ नहीं है, तो उन सुखों की, जो इस जीवन में मिल सकते हैं, अवहेलना क्यों की जाय? काव्यशास्त्र का अनुशीलन भी मनोविनोद के लिए है, और यदि किसी को दूसरी चीजों में आनन्द मिलता है तो उन चीजों को त्याज्य नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः वर्त्तमान योरुपीय नैतिक चेतना को जिसने सबसे अधिक प्रभावित किया, वह अध्यात्मवाद आदि की पद्धतियां नहीं, डार्विन का विकासवाद था। अति-आधुनिक काल के प्रायः सभी विचारक विकासवाद से प्रभावित हुए हैं। डार्विन के अनुसार ऊंची जीवन योनियों का विकास संघर्ष या प्रतिद्वन्द्विता द्वारा होता है और इस जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय होती है। इस तथ्य का एक पहलू यह भी है कि अन्त में जो

विजयी होता है, वही योग्य या श्रेष्ठ है।* इस प्रकार संघर्ष-क्षमता अथवा शक्तिमत्ता नैतिक श्रेष्ठता का प्रतीक बन जाती है। जर्मन विचारक निट्शे ने विकास-सिद्धान्त के नैतिक निष्कर्षों को स्पष्ट करने की चेष्टा की। हमारे आचरण का उद्देश्य उच्चकोटि के मानव (Superman) का विकास होना चाहिए, कमजोर और अशक्त मनुष्यों का रक्षण या पोषण नहीं। निट्शे के नीतिधर्म में दया, ममता आदि का कोई स्थान नहीं है। डार्विन के अनुयायियों के अनुसार दया, ममता आदि प्राकृतिक विकास-प्रक्रिया को विघ्नित करने वाले हैं। इसके विपरीत संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता द्वारा अच्छी कोटि के मनुष्यों का रक्षण और हीन-कोटि के मनुष्यों का क्रमिक लोप होने से मानव-जाति अधिकाधिक ऊंचे रूपों में विकसित होती है।

इस प्रकार योरुप में 'व्यक्तित्व के पोषण' की शिक्षा विभिन्न स्रोतों से पुष्पित, पल्लवित और पुष्ट हुई है। क्योंकि इस जीवन के परे कुछ नहीं है, इसलिए अपने व्यक्तित्व को अधिकाधिक विविध अनुभूतियों से वर्धित करना चाहिए। संक्षेप में, वर्त्तमान योरुप का जीवन के प्रति यही दृष्टिकोण है। 'रिलीजन' या मोक्षधर्म के अभाव में योरुपीय जीवन में कोई ऐसा आदर्श नहीं रह गया है जिसके प्रति चिरन्तन रागात्मक वृत्ति या अनुराग हो सके। अतएव वर्त्तमान योरुपीय विविध भोग-सामग्री में, विविध दर्शन और श्रवण के विषयों में, उत्तेजना और आनन्द ढूंढ़ता है। जीवन में जितने हो सकें उतने अनुभवों को महसूस करना अथवा अहर्निश उत्तेजनाओं को ढूंढ़ते रहना, कुछ लोगों की सम्मति में यही जीवन का उद्देश्य है। एक लेखक के शब्दों में वर्त्तमान योरु-

* तु० की० Might is rignt, admirable, worthy. (R.B.-Perry, Presnt Conflict of Ideals, पृ० १४२) ब्रेडले लिखता है:—

'That which is strongest on the whole must therefore be good, and the ideals which come to prevail must therefore be true. This doctrine.... has...now for

पीय समाज में लोग सुख की खोज में लगभग उन्मत्त हो रहे हैं।* किसी आदर्श की वास्तविकता में अथवा स्वयं जीवन में विश्वास न होने का यह स्वाभाविक किन्तु दयनीय परिणाम है। जीवन की निष्प्रयोजन निरर्थक घड़ियां बीती जा रही हैं, फिर क्यों न किसी भांति यदा-कदा मिल जाने वाले क्षणिक सुखों या उत्तेजनाओं को पकड़ लिया जाय ?

'रिलीजन' के अभाव में वर्त्तमान योरुप आज इन्द्रिय-सम्वेदनों और इन्द्रिय तृप्ति के अतिरिक्त सब चीजों में विश्वास खो बैठा है। वस्तुतः नीतिधर्म दर्शन और मोक्षधर्म या रिलीजन के आधार के बिना अकिंचित्कर है। योरुपीय दर्शन ने अपने को रिलीजन से तटस्थ रखा, जिसका परिणाम रिलीजन का ह्रास हुआ। रिलीजन के अभाव में वहां नीतिधर्म की नाव भी डगमगा रही है। प्रजातन्त्र के उदय ने योरुप में लोगों को एक नया रिलीजन दिया, अर्थात् राजनीति और राष्ट्रवाद (Nationalism)। राष्ट्रवाद ने एक नये नीतिधर्म को, जो डार्विनवाद से अनुप्राणित था, जन्म दिया। राष्ट्रवादी व्यक्ति दूसरों के प्रति कर्त्तव्य मानता है, किन्तु वे दूसरे उसके समान-राष्ट्रीय लोग हैं। और डार्विन के विकास-नियम के अनुसार जो राष्ट्र विजयी होता है वही धर्मात्मा या नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। इस नवीन रिलीजन का फल पिछला और वर्त्तमान महायुद्ध हैं।

भारतवर्ष में दर्शनशास्त्र मोक्षधर्म के प्रति उदासीन नहीं रहा, किन्तु उसने नीति-धर्म को गौण घोषित कर दिया। यहा नीतिधर्म सर्वथा मोक्षधर्म पर अवलम्बित रहा। यह मानना ही पड़ेगा कि भारतीय-दर्शन ने

a century, taken its place in Europe.... it more or less dominates or sways our minds to an extent of which most of us, are perhaps, dangerously unaware.' —Essays on Truth and Reality.

*...."An almost maniacal hunt for pleasure" दे० Cattel, Psychology and the Religious Oust, p. 53.

,इह-लोक की दृष्टि से जीवन का आदर्श क्या है, इस प्रश्न की उपेक्षा की। इसका एक परिणाम तो यह हुआ कि यहां राजनीतिक क्षेत्र में विशेष उन्नति नहीं हो पाई, लोग अन्त तक एक स्वेच्छाचारी राजा का शासन मानते रहे। दूसरे, जीवन के सब व्यापारों में यहां की जनता बिना सोच-विचार किये शास्त्रों के आदेश मानने की अभ्यस्त बन गई, भले ही वे आदेश ऐहिक कल्याण को क्षत करने वाले हों। हमारे धर्म के, साधारण जनता के लिए, आदेशात्मक रहने का परिणाम यह हुआ है कि लोग आंख मूंदकर प्राचीन प्रथाओं का, जो अब निरर्थक हो गई हैं, पालन किये जाते हैं और उनकी उपयोगिता के बारे में विचार करने को नहीं रुकते। रूढ़िपालन को ही हमारी जनता धर्म समझती है। यही कारण है कि भारतीय सुधारक आज हमारे समाज से बुरी प्रथाओं को हटाना नितान्त कठिन पा रहे हैं। संभवतः संसार के किसी समाज में इतना अंध-विश्वास नहीं है जितना भारतीय समाज में; कहीं के लोग कर्त्तव्या-कर्त्तव्य के सम्बन्ध में इतने रूढ़िवादी नहीं है, जितने कि भारतवर्ष के। इसका प्रधान कारण यही है कि भारत की जनता कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान के पूर्णतया शास्त्रों पर निर्भर करने की अभ्यस्त हो गई है।

क्या आधुनिक काल के स्वतन्त्रचेता विचारक भारतीय मोक्षवाद या मोक्षधर्मको ग्राह्य पा सकते हैं? वस्तुतः मोक्ष की सम्भावना का दार्शनिक मंडन बहुत कठिन है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय मोक्ष का आदर्श ससार के अन्य सब धर्मों (Religions) के पारलौकिक आदर्शों की तुलना में अधिक ऊंचा और बुद्धि-ग्राह्य है। भारतीय दर्शन मोक्ष को सिर्फ जीवन के बाद फलीभूत होने वाला अनिश्चित आदर्श ही नहीं मानता; वह जीवन्मुक्ति की सम्भावना में भी विश्वास रखता है। गीता के स्थितप्रज्ञ को हम जीवन्मुक्त वर्णित कर सकते हैं। 'स्थितप्रज्ञ मुनि वह है जिसने तुच्छ मनोरथों को छोड़ दिया है, जो दुःखों से उद्विग्न नहीं होता और जिसकी सुखों में स्पृहा नहीं है; जो राग, द्वेष, भय और क्रोध से मुक्त है; क्षुद्र वास्तविकताएं जिसकी शान्ति को भंग नहीं कर सकतीं।' जीव-

न्मुक्त एक दूसरी ही भूमिका में विचरण करता है। साधारण लोग जिन्हें हानि-लाभ समझते हैं, जिनसे बचने या जिनको प्राप्ति के लिए अहर्निश संघर्ष करते हैं, स्थितप्रज्ञ ज्ञानी उनकी प्राप्ति पर उपेक्षा की हंसी हस देता है। वह विश्व के वैभवों को असीम के दृष्टिकोण से देखता है, और उन्हें इच्छा करने योग्य नहीं पाता। परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड-राशियों तक सब चीजें जानने या समझने लायक हो सकती हैं, सबके ज्ञान के लिए प्रयत्न करना श्लाघ्य है, किन्तु जड़ात्मक विश्व में कुछ भी अभिलाषा का विषय होने योग्य नहीं है। जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी ऐषणाओं से कहीं ऊपर उठा हुआ होता है। भारतीय मोक्षवाद की प्रशंसा करते हुए अल्बर्ट स्वीज़र (Albrt Sweitzar) कहता है:—

Compared with the Brahmanic Superman, Nietzsche's is a miserable creature. Brahmanic Superman is exalted over the whole universe, Nietzsche's merely over-human Society. * अर्थात् भारतीय मुक्त पुरुष की तुलना में नित्शे का महापुरुष क्षुद्र प्राणी प्रतीत होता है। मुक्त पुरुष सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के ऊपर उठ जाता है, नित्शे का महापुरुष सिर्फ मानव-समाज से ऊपर उठता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष का आदर्श अथवा जीवन्मुक्त का आदर्श आज भी हमारी बुद्धि और कल्पना को स्पर्श करता है। यदि हम निट्शे के समाजातिगामी महापुरुष का विचार छोड़ दें, तो योरुपीय नीतिशास्त्र के अनुसार पूर्ण जीवन ऐसे व्यक्तियों का जीवन होगा जो साधारण मात्रा में इन्द्रिय-सुखों को उपभोग करते हुए काव्यशास्त्र की आराधना करते हैं। इस दृष्टि से जर्मन कवि गेटे का जीवन आदर्श कहा जायगा। महाकवि गेटे एक अपूर्व पुरुष था जो जीवन भर काव्य-शास्त्र का अनुशीलन, साहित्य का सृजन और युवतियों से प्रेम करता रहा।

* Indian Thought and its Development.

मोक्ष का आदर्श आज ग्राह्य हो या नहीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि मानव-हृदय चिरकाल तक ससीम से सन्तुष्ट नहीं रह सकता। मानव-जाति सदैव से एक ऐसे आदर्श की खोज में रही है जो शाश्वत और चिरन्तन हो। आज भी मानवता एक ऐसे आदर्श का स्वप्न देखने को व्याकुल है। उस आदर्श का स्वरूप कैसा होना चाहिए जिससे वह वर्त्तमान वैज्ञानिक बुद्धि को ग्राह्य हो, यह स्थिर करना दर्शन-शास्त्र का काम है। निष्कर्ष यह है कि दर्शन-शास्त्र को न नीतिधर्म से तटस्थ रहना चाहिए और न मोक्षधर्म से। दर्शन का काम विश्व की व्याख्या करना ही नहीं, मानव जीवन के ध्रुव आदर्श का अन्वेषण और उसका स्वरूप स्थिर करना भी है।

———

उपसंहार

दार्शनिक चिन्तन की प्रेरक शक्ति जहाँ एक ओर मानवता की अदम्य जिज्ञासा-वृत्ति है वहाँ दूसरी ओर उसकी पूर्णत्व की ओर बढ़ने की प्रबल-वासना है। विभिन्न विचारकों में समय-समय पर इन दो में से एक वृत्ति अधिक तीव्र हो जाती है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र एक ओर विज्ञान से और दूसरी ओर मोक्षधर्म से गहरा सम्बन्ध रखता है। अपने चिन्तन में दर्शन वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्ब लेता है, वह विभिन्न विज्ञानों के निष्कर्षों में सामाञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा भी करता है। विज्ञान खण्ड-सत्यों का अन्वेषण करते हैं, दर्शन का लक्ष्य अखण्ड सत्य—समग्र-विश्व-विषयक सत्य, है। इस प्रकार दर्शन में मानवता के विभिन्न ज्ञान-प्रयत्नों का पर्यवसान होता है। साथ ही दर्शन मानव-जीवन के लक्ष्य का निर्देश करने की चेष्टा करता है। पहले अध्याय में हमने यह निष्कर्ष निकाला था कि योरुपीय दर्शन में वैज्ञानिक प्रेरणा की प्रधानता रही है जब कि भारतीय दर्शन मोक्षधर्म में अधिक अभिरुचि लेता रहा है। दोनों ही प्रकार की प्रेरणाओं के मूल में जिज्ञासा-वृत्ति रहती है; भेद जिज्ञासा के विषय में हो जाता है।

वस्तुतः हम अनुभव-जगत् में दो तत्त्व पाते हैं, एक तो कार्य-कारण भाव से नियमित वास्तविकताओं की शृङ्खला और दूसरा शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य, सुन्दर-असुन्दर आदि मूल्यों का संसार, जिसका देश-काल से विशेष सम्बन्ध नहीं दीखता। दार्शनिक जिज्ञासा के यह दोनों ही क्षेत्र हैं। मूल्य-जगत् में कुछ तत्त्व सापेक्ष और ससीम दीखते हैं, जैसे प्रेम, यश, अपयश आदि; यह मूल्य नीतिशास्त्र का विषय है। भारतीय दर्शन सापेक्ष मूल्यों से भी उदासीन रह कर असीम या निरपेक्ष लक्ष्य या आदर्श की खोज करता रहा। इस के विपरीत योरुपीय दर्शन ने व्यावहारिक मूल्यों

के अध्ययन अर्थात् लोकधर्म में अधिक अभिरुचि ली। किन्तु दार्शनिक चिन्तन की पूर्णता सापेक्ष और निरपेक्ष मूल्यों एवं घटना-जगत् और मूल्य-जगत् के पारस्परिक सम्बन्धों को बुद्धिगम्य बनाने में है, वह अनुभव-जगत् के किसी अंश से उदासीन नहीं रह सकता। इस प्रकार न तो दर्शन और विज्ञान में कहीं विरोध की गुञ्जायश है, न दर्शन और मोक्षधर्म (Religion) में।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् फ्रेडरिक पाल्सन ने अपने ग्रन्थ "दर्शन की भूमिका" में योरुपीय दर्शन की प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक विवेचन करते हुए लिखा है:—

Philosophy is the sum of all scientific knowledge. History demands that we accept this definition.❀

अर्थात् दर्शन की दार्शनिक इतिहास-सम्मत व्याख्या यही है कि वह विभिन्न विज्ञानों का योग अथवा सब प्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान का एकीकरण है। किन्तु यह परिभाषा अपूर्ण है। विभिन्न विज्ञान जीवन के मूल्यों पर विचार नहीं करते, और ज्ञानमीमांसा की भांति मूल्यों का स्वरूप-निर्णय दर्शन की अपनी समस्या है। वस्तुतः कुछ आधुनिक लेखकों ने तो दर्शन को "मूल्यों का विज्ञान" (Science of Values) कह कर वर्णित किया है। दूसरे लेखकों के अनुसार मूल्यानुचिन्तन दर्शन का प्रधान काम है। हैनरी स्टीफ़ेन ने लिखा है:—'हम क्या हैं? हमें क्या करना है? हम क्या आशा कर सकते हैं? दर्शन इन प्रश्नों का उत्तर देना चाहता है, पर वह यह उत्तर सृष्टि के स्वरूप की खोज और उस में हमारे स्थान का निर्णय करके प्राप्त करना चाहता है।'* दर्शन की यह अन्तिम परिभाषा भारतीय विचारकों को ग्राह्य हो सकती है। भारतीय दर्शन के अनुसार भी आत्मा के स्वरूप और उसके मोक्षरूप का ज्ञान दर्शन की प्रमुख समस्या है। वस्तुतः पूर्व और पश्चिम की

❀ Introduction to Metaphysics (१९३०), पृ० ३३

* Problems of Metaphysics (१९१२), पृ० १

दर्शन-संबन्धी धारणाएं परस्पर भिन्न न हो कर एक-दूसरे की पूरक हैं।

पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से मूल्य-जगत् और घटना-जगत् में सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। प्राच्य दर्शनों के अनुसार सब प्रकार के मूल्यों का अधिष्ठान आत्मा है, और यह आत्मा जड़ जगत् से भिन्न है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग और वेदान्त सब के अनुसार आत्मा का प्रपञ्च से सम्बन्ध-विच्छेद ही मोक्ष है। भक्ति-मार्गी दर्शनों का मत और है, पर इन दर्शनों का चिन्तनात्मक आधार दुर्बल है। मध्वाचार्य उपर्युक्त मत के ही पोषक हैं, उनके अनुसार आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि के अनुसार मुक्त जीव लोक-विशेष में भगवान् के साथ रहता है।

पश्चिम के जड़वादी विचारक जहा मूल्य-जगत् को असत् या अवास्तविक, मात्र बाई-प्रोडक्ट, घोषित करते हैं, वहां अध्यात्मवादी विचारक मूल्यों को घटना-जगत् में ओतप्रोत मानते हैं। वे समस्त विश्व को मानव-आदर्शों से परिचालित अर्थात् प्रयोजनोन्मुख व्यापार-समष्टि के रूप में कल्पित करते हैं। घटना-जगत् और मूल्य-जगत् में कोई द्वैत नहीं है। घटनाएँ मात्र कार्य-कारण-परंपरा रूप नहीं हैं, वे एक चरम-लक्ष्य की ओर गतिमान भी हैं। भौतिक नियम-प्रवाह के साथ ही विश्व में नैतिक नियम-प्रवाह (Moral Order) भी सजग है।

धर्म और साधना के क्षेत्र में भारतीय दर्शन की सब से महत्त्वपूर्ण देन जीवन्मुक्ति की धारणा है। किसी कल्पित परलोक में ही नहीं, इस लोक में भी मनुष्य की अहन्ता-शून्य असीम में अवस्थिति संभव है। वह तुच्छ राग-द्वेष, मानापमान, हानि-लाभ से परे हो सकता है। इसके विपरीत पाश्चात्य बुद्धि अनवरत प्रयत्न और व्यक्तित्व के पोषण में जीवन की महिमा देखती है। किन्तु आसन्न अतीत में इस घोर व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। समाजवाद ने अन्ध-प्रति-द्वंद्विता और व्यक्तिवाद का विरोध किया हैं। अपने ग्रन्थ "लक्ष्य और साधन" (Ends and Means) में आल्डस हक्सले ने बड़े ज़ोरदार

शब्दों में भारतीय नैष्कर्म्य (निष्काम कर्म) के आदर्श का समर्थन किया है:—

The ideal man is the non-attached man. Non-attached to his bodily sensations and lusts. Non-attached to his craving for power and possession.... Non-attached to his anger and hatred; non-attached to his exclusive loves. Non-attached to wealth, fame, social position. Non-attached even to service, art, speculation, philanthropy. Yes, non-attnched even to these. For, like patriotism.... they are not enough.*

अर्थात् 'आदर्श पुरुष अनासक्त पुरुष है। अनासक्त शारीरिक संवेदनों में, वासनाओं में; शक्ति की इच्छा में, विविध सामग्री में; क्रोध में, घृणा में; व्यक्तिगत प्रीतियों में; धन में, यश में, सामाजिक सम्मान में। अनासक्त कला, चिन्तन और जनसेवा में; हाँ, इन में भी, क्योंकि यह, देश-प्रेम की भाति, पर्याप्त नहीं हैं।' अन्यत्र वही लेखक लिखता है— 'वर्त्तमान परिस्थिति में जनता की नैतिक चेतना शक्ति और सामाजिक उच्चता के इच्छुक को बुरा नहीं समझती। योरुप और अमरीका के बालक सामाजिक उच्चता प्राप्त कर लेने वाले की प्रशंसा करते हैं और उस की सफलता को पूज्य दृष्टि से देखते हैं, वे अमीरों और पदस्थों से ईर्षा करना भी सीखते हैं, एवं उनका आदर और आज्ञा-पालन भी। अर्थात् महत्त्वाकाङ्क्षा और आलस्य, दो संबद्ध बुराइयां, गुण समझी जाती हैं। तब तक संसार का कल्याण नहीं हो सकता जब तक लोग शक्ति के आकाङ्क्षी को उतना ही बुरा न समझने लगें जैसा कि अत्याहारी और कञ्जूस को' (पृ० ३२०)। व्यक्तिवाद का इससे अधिक तीव्र विरोध असंभव है।

हक्सले के उद्गारों से यह स्पष्ट है कि सत्य कभी पुराना नहीं पड़ता, न वह कभी अनावश्यक ही हो सकता है। प्राचीन भारत के नैतिक

* Ends and Means (१९४०), पृ० ३–४

सिद्धान्त आज की दुनिया के लिए आवश्यक और उपादेय हो सकते हैं। पूर्व के विचारों से पश्चिम और पश्चिम के विचारों से पूर्व लाभान्वित हो सकता है। सत्य का अन्वेषण और उपयोगिता देश-विशेष या काल-विशेष में सीमित नहीं हैं। वस्तुतः कोई सत्य कितना एकांगी है और कितना पूर्ण, इस की ठीक से परीक्षा तब होती है जब वह अपने अन्वेषक देश-काल के घेरे से बाहर पहुंचता है। इस के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न देशों के विचारक निष्पक्ष सहानुभूति से एक-दूसरे की सभ्यता और विचार-परंपरा को समझने की चेष्टा करें जिस से पारस्परिक सहानभूति एवं सामान्य मनुष्यता के विकास में सहायता मिले। इसके लिए तुलनात्मक दर्शन का अध्ययन तो और भी जरूरी है, क्योंकि प्रत्येक देश और जाति के श्रेष्ठतम विचार उसके दार्शनिक-साहित्य में निहित रहते हैं। यदि मेरी इस छोटी पुस्तक ने पूर्व और पश्चिम की सामान्य मनुष्यता को जगाने में कुछ भी मदद की तो मैं अपने प्रयत्न को विफल नहीं समझूंगा।

परिशिष्ट

कुछ पारिभाषिक शब्द

(अंगरेज़ी पर्यायों सहित)

हिन्दी	English
अतात्त्विक	Phenomenal
अध्यात्मवाद	Idealism
अनेकवाद	Pluralism
अनुभव-निरपेक्ष	A priori
अन्तरंग सम्बन्ध	Internal Relation
आगमन	Induction
आभास	Appearance
आवश्यक	Necessary
आवश्यक मान्यता	Postulate
आत्मगत, आत्मनिष्ठ, आत्मपाती	Subjective
उपयोगितावाद	Pragmatism Utilitarianism
उपपत्ति	Demonstration
एकवाद	Monism
गत्यात्मक	Dynamic
चरमतत्त्व	Reality
चिद्‌विन्दु	Monod
जड़वाद	Materialism
जातिप्रत्ययवाद	Theory of ideas
तत्त्वमीमांसा	Ontology
तत्त्व पदार्थ	Reality
तारतम्यात्मक श्रेणी	Hierarchy
दर्जे	Degrees
द्वन्द्वन्याय, द्वन्द्वनियम	Dialectic
धारणा	Concept, category
निगमन	Deduction
नियतवाद	Determinism
परब्रह्म	Absolute
पुद्‌गल	Matter
पुद्‌गलाद्वैत	Material Monism
पूर्ण प्रत्यय	Absolute Idea
पूर्वस्थापित- सामञ्जस्य	Pre-established Harmony
प्रत्यय	Idea
प्रतिभान	Intuition
प्रतिज्ञा	Judgment

प्रतिभास = आभास Appearance
बोध Thought
भूमिका Plane
प्रयोजनवाद Finalism
मान्यता, मन्तव्य Tenet
मोक्षधर्म Religion
यथार्थवाद Realism
वाक्य = कथन Proposition judgment
विवर्त्त Appearance
विषयता Objectivity
विस्तार Extension

विश्वतत्त्व Reality
व्यक्तित्व Personality
संगति Coherence Consistency
संगतिवाद Coherence Theory
संवित्शास्त्र — Epistemology
सदसद्बुद्धि Conscience
समष्टि System
सार्वभौम Universal
सीढ़ी, सोपान Stage
सुखवाद Hedonism
स्थित्यात्मक Static.
ज्ञान मीमांसा Epistemology